फटा पत्र

कुछ चुने हुए उपन्यास

अप्सरा	४)	नूरजहाँ	४।)
अलका	३।।)	ललिता	३)
बिदा	६)	चलती पिटारी	२।।)
विकास	१०)	नादिरा	५)
अमृतकन्या	५)	कोहनूर कंपनी में डाका	२।।)
मरघट	४।)	भाई	२।।)
आत्महत्या	२।।)	क़ैदी	२।।)
प्रेम-परीक्षा	२)	पाप की ओर	३)
कुबेर	३।।)	विचित्र योगी	२।।।)
अरक्षिता	२।।।)	नंगे पाँव	२।।)
उल्टा मार्ग	३)	सेब का वृक्ष	२।)
निरंजन शर्मा	२।।)	सरकार तुम्हारी आँखों में	२।।)
प्रत्यागत	३।।।)	विगत और वर्तमान	१।।)
कोतवाल की करामत	२।।।)	खवास का ब्याह	२।)
प्रेम की भेंट	३)	अंतिम चरण	७।।)
चंद्रगुप्त विक्रमादित्य	५)	सूर्यलोक	८)
स्वतंत्र भारत	५)	नौजवान	५)
गुदड़ी का लाल	३।।)	विराटा की पद्मिनी	६)
प्रतिशोध	२।।।)	ज़िंदगी के मोड़	३)

भारत-भर की भारती (हिंदी) की पुस्तकें मिलने का पता—

जवाहिर-ज्योति, वंशीधर-कोठी, प्रयाग

फटा पत्र

(५ सुंदर कहानियाँ)

लेखक

गोविंदवल्लभ पंत

[वरमाला, राजमुकुट, अंगूर की बेटी,
सुहाग-बिंदी, अंतःपुर का छिद्र, मदारी, जूनिया,
तारिका, प्रतिमा, यामिनी, नौजवान आदि के रचयिता]

जवाहिर-ज्योति
वंशीधर-कोठी
प्रयाग

प्रथमावृत्ति]　　सं० २०१४　　[मूल्य ३)

प्रकाशक

जवाहिर-ज्योति

वंशीधर-कोठी

प्रयाग

अन्य-प्राप्ति-स्थान—

१. गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ

२. भारती (भाषा)-भवन, ३८१०, चर्खेवालाँ, दिल्ली

३. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना

४. सुधा-प्रकाशन, भारत-आश्रम, राजा बाजार, लखनऊ

५. गंगा-गृह, फूल-निवास, अजमेर

६. सावित्री-साहित्य-सदन, मन्दोदरी-पार्क, वाराणसी (काशी)

७. जवाहिर-ज्योति, वंशीधर-कोठी, इलाहाबाद

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें भारत-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हिंदी सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक

वंशीधर-प्रेस

इलाहाबाद

प्रेमोपहार

श्री ____

____

दो शब्द

पं० गोविंदवल्लभ पंत हिंदी के एक श्रेष्ठ लेखक हैं। जब हमने उनका 'वरमाला'-नाटक छापा था, तभी हमने उनमें असाधारण प्रतिभा पाई थी। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। वह हिंदी के श्रेष्ठ नाटककार के रूप में तो अब तक अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं; पर वह अच्छे उपन्यास-लेखक, कहानी-लेखक, गीतकार, कवि और प्रबंध-लेखक भी हैं, यह बात वादश प्रसिद्ध नहीं। अस्तु।

उनकी ये ५ कहानियाँ हमने सुधा में छापीं, तो लोगों ने इतनी पसंद कीं कि हम इन्हें अब पुस्तकाकार निकाल रहे हैं। ये गल्प-रत्न कैसे हैं, यह तो समालोचक-जौहरी परखें। हमारा यह कार्य नहीं। कारण, पंतजी अपने हैं। और, अपनों की चीज़ किसे पसंद नहीं आती।

दुलारेलाल

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ, १।८।५७

वंशीधर-कोठी
प्रयाग, १।८।५७

सूची

फटा पत्र

प्रजापति और मास्टरों के घंटों में इतनी शरारत नहीं करता था, जितनी पंडित आनंदरत्न साहित्य-शास्त्रीजी के घंटे में। वे जब लड़कों की कापियाँ शुद्ध करते थे, तब लड़के उनकी मेज़ को चारों ओर से घेर लेते थे। वे जब सिर कुछ नीचा-कर अपनी क़लम चलाते थे, तब उस समय प्रजापति उनके सिर के ऊपर अपने दोनो हाथों से भाँति-भाँति की शक्लें बनाया करता था। लड़के दाँतों को मिलाकर हँसी रोक लेते थे; जो नहीं रोक सकता था, वही पिटता था। प्रजापति कभी-कभी उनकी टोपी से बाहर आई हुई चोटी के सिरे को भी खींच लेता था। उस दिन वह अपना क्रोध नहीं सँभाल सकते थे, और जो सामने पड़ा, उसी पर डंडा जमा देते थे। उस समय प्रजापति सबसे सीधे लड़के का मुँह लेकर हिंदी की किताब खोलता था, और कोई कठिन शब्द या वाक्य खोजकर पंडितजी से उसका अर्थ पूछता था। पंडितजी खिन्न होकर कहते थे—"जाओ, जाओ, इस समय अपनी जगह पर बैठो, पढ़ते समय बताऊँगा। खबरदार! कोई अपनी जगह से उठा, तो फिर वही डंडा। एक-एक कर मैं जिसका नाम पुकारूँ, वही आवे।" उस दिन फिर वही क्रम चलता था।

प्रजापति दरजे की अंतिम पंक्ति में बैठता था। कभी जब कोई मास्टर उसके आगे के विद्यार्थी से प्रश्न पूछता था, तब प्रजापति बड़ी सफ़ाई से अपने डेस्क के नीचे से पैर बढ़ाकर उसका स्टूल पीछे खींच लेता था। क्या मजाल कि जरा भी शब्द हो जाय। बैठते समय वह विद्यार्थी गिर पड़ता और सारा दरजा एक साथ हँस उठता था। मास्टर साहब बहुत गंभीर हुए, तो हँसी को खाँसी में लीन कर लेते थे, नहीं तो लड़कों के साथ हँसकर कहते—"जगह देखकर बैठो जी, क्या हो गया तुम्हें ?"

छुट्टी होने से पहले कभी वह किसी का कोट डस्टर से स्टूल पर बाँध देता था। कापी का पेज इस तरकीब से फाड़ता था कि उसमें एक लंबी धारी निकल आती थी। आलपीन की मदद से उसे किसी लड़के के वस्त्र में जड़कर पूँछ-सी बना देता था या कभी-कभी कागज़ पर "भाड़े के लिये" अथवा "विक्रयार्थ" लिखकर गोंद से लड़कों की पीठ पर चिपका देता था। छुट्टी होने पर वह लड़का आगे-आगे जाता था, और उसके पीछे-पीछे तालियाँ पीटते हुए, शोर मचाते हुए और लड़कों का दल।

वह बड़े-बड़े मास्टरों के आने पर भी स्टूल से डेढ़-दो इंच ऊँचा उठता था। पंडित आनंदरत्नजी का आना-जाना उसके लिये एक सामान्य बात थी, वह उस ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था।

समस्त दरजे के लड़के उससे डरते थे। जो उसकी चुग़ली खाता, स्कूल के बाद उसी की खबर ली जाती। उसका तमाम होम-टास्क उसके दरजे के लड़कों को ही करना पड़ता था। जब मास्टर दरजे में उससे प्रश्न करता था, तब सारा दरजा काना-फूसी कर उसे उत्तर बताता था। उसके दाईं और बाईं ओर जो लड़के बैठते थे, उनका तो यह विशेष कर्तव्य ही था।

प्रजापति हर घंटे में बाहर जाने की छुट्टी माँगता था। शास्त्रीजी के घंटे में तो उसे बिना पूछे ही कहीं चले जाने का लाइसेंस मिला हुआ था। इस छुट्टी का उपयोग वह हेडमास्टर साहब की स्थिति से अवगत होने, दफ्तर की घड़ी में समय देखने तथा चौकीदार के झोपड़े की ओट में जाकर सिगरेट पीने में करता था। सिगरेट पीकर वह लौंग चबाता और उसकी दुर्गंधि दबाकर दरजे में चला आता था। इसी अवसर में छिपकर वह कभी-कभी बाज़ार तक हो आता था।

हेडमास्टर का कौन घंटा कहाँ है, यह उसे खूब याद था। नया समय-विभाग बनने पर वह सबसे पहले यही देखता था कि हेडमास्टर साहब के कौन-कौन-से घंटे खाली हैं। उन घंटों में वह बड़ा सावधान रहता था; क्योंकि उन घंटों में हेडमास्टर साहब को, बिल्ली के पैर लेकर, खिड़कियों से दरजों में झाँकने की भी आदत थी।

प्रजापति के पिता नगर के सुप्रसिद्ध व्यापारी थे। रुपया-

पैसा पर्याप्त था। लड़के को इंट्रेंस पास कराने की उन्हें ज़रा भी चिंता न थी। प्रजापति को साल के अंत में किसी प्रकार प्रोमोशन मिल ही जाता था। स्कूल में कोई भी मास्टर ऐसा न था, जो प्रजापति का प्राइवेट ट्यूटर न रह चुका हो।

पंडित आनंदरत्न शास्त्रीजी किसी को गुरु-भक्ति का उपदेश देकर, किसी को परीक्षा की असफलता का भय दिखाकर, किसी को धमकाकर और किसी को अपने डंडे से क़ाबू में किए रहते थे; पर प्रजापति पर उनका कोई भी मंत्र नहीं चलता था। वह उनके धमकाने पर हँस देता था, उनके मारते वक्त बेत पकड़ लेता था। पंडितजी गंभीर होकर कहने लगते—"तुम्हें कुछ भी तो शर्म नहीं प्रजापति! तुम्हारे पिता के पास बहुत धन है। कुछ पढ़ लेते, तो व्यर्थ नहीं जाता। नहीं पढ़ना है, तो न सही। दूसरे सहपाठियों के सामने क्यों बुरा नमूना रखते हो? क्यों उनका समय नष्ट करते हो?" पर यह उपदेश गरम तवे के ऊपर का जल-बिंदु था, जो उसमें गिरते ही नष्ट हो जाता था। यह कमल-पत्र के ऊपर का जल-बिंदु था, जिसका उस पर गिरकर भी कुछ असर ही नहीं होता था।

पंडित आनंदरत्नजी प्रजापति के ऊपर अपना प्रभाव खो बैठे थे, इसके कई कारण थे। उन्हें प्रजापति के घर से पेट-भर निमंत्रण मिलते थे, मुट्ठी-भर दक्षिणा मिलती थी, यह एक कारण था। शास्त्रीजी को खैनी खाने की आदत थी। स्कूल में जब कभी उनका तंबाकू या चूना या दोनो बीत जाते थे, तब

प्रजापति हेडमास्टर की नज़र बचाकर चुटकियों में वह सब कुछ बाज़ार जाकर ले आता था, यह दूसरा कारण था।

मिस्टर सी० पी० सनलाइट साहब उस मिडिल स्कूल के हेडमास्टर थे। चमड़ा गेहुँए रंग का। सन् १६१२ में इंट्रेंस में फ़ेल हुए, फिर पढ़ा नहीं; पर प्राइवेट परीक्षा पास करने की आशा कर उसी स्कूल में असिस्टेंट मास्टर हो गए। कुछ महीने बाद विवाह किया, और कुछ वर्ष बाद अपने गुण की बदौलत हेडमास्टरी का भार सिर पर रखने को मिल गया। अँगरेज़ पादरियों के साथ संबंध होने के कारण खूब अच्छी अँगरेज़ी लिखते और बोलते थे। वेश और भोजन भी वैसा ही था। तवे पर सिकी रोटियाँ और दाल उनके पिताजी ही छोड़ चुके थे।

वह सिर की माँग, पतलून की क्रीज़ और बूट की पालिश पर विशेष ध्यान रखते थे। कोट के रंग की टाई पहनते थे। उनके चश्मे का नंबर शून्य था, और वह अपने सौभाग्य की संख्या सत्रह बताते थे।

उनकी बैठक में बैठने के लिये कुर्सियाँ थीं। बैठक के सामने की दीवाल में राफ़ेल की 'शिशु और माता' की अच्छी बड़ी तसवीर लटकती थी। यह उन्हें स्वदेश लौटते समय एक पादरी साहब उपहार दे गए थे। इसके अतिरिक्त और भी कई छोटे-बड़े आकृति और प्रकृति के चित्र उनके यहाँ थे। मेज़ के पास रिवॉल्विंग बुकशेल्फ़ था। उसमें बाइबिल, शेक्सपियर,

मिल्टन, स्कॉट के अतिरिक्त शिक्षा-शास्त्र और स्कूल-प्रबंध पर भी अनेक पुस्तकें थीं। भोजन और शयन के कमरे भी अलग अलग सुसज्जित थे।

मिस्टर सनलाइट साहब पढ़ाने में प्रवीण, प्रबंध में दक्ष और शासन में चतुर थे। स्कूल ठीक समय पर आते-जाते थे, और हिसाब-किताब अप-टू-डेट रखते थे।

स्कूल के सात घंटों में वह पहले चार घंटे पढ़ाते थे। एक घंटा आफ़िस का काम देखते थे, एक घंटा स्कूल के निरीक्षण का था, और एक घंटा उनके अवकाश का था। आफ़िस में उन्हें एक क्लर्क भी मिला हुआ था। उनके अंतिम तीन घंटे प्रायः दफ़्तर में ही बीतते थे। उस समय वह हिसाब-किताब की जाँच करते थे, टाइप-राइटर खटखटाकर स्कूल का पत्र-व्यवहार करते थे। निजी पत्र भी वह वहीं लिखते थे, और उनका दैनिक पत्र भी वहीं खुलता था।

सालाना परीक्षा निकट थी। बीच में एक सोमवार था, दूसरे सोमवार से आरंभ थीं।

वह सनीचर का दिन था। प्रजापति के दरजे में शास्त्रीजी थे। स्कूल का अंतिम घंटा था। शास्त्रीजी उसमें हिंदी पढ़ाते थे। आज श्रुत-लेख की बारी थी। शास्त्रीजी ने उसे लिखाकर एक बार फिर दुहराया। इसके बाद तमाम लड़के कापियाँ लेकर भड़-भड़ करते हुए उठे, और उनके सामने मेज पर उनका ढेर लगा, उन्हें घेरकर खड़े हो गए। प्रजापति के कुछ वाक्य

छूट गए थे। उसने अपने पास के एक लड़के की कापी रोक ली, और उसमें से नक़ल करने लगा। उसने नक़ल कर दोनो कापियाँ उठाईं, और शास्त्रीजी की मेज़ की ओर चला। वहाँ पहुँचकर उसने अपनी दृष्टि शास्त्रीजी की ओर स्थिर की। कापियों के ढेर के बीचोबीच अपना हाथ डालकर कुछ कापियाँ ऊपर को उठाईं, चुपचाप बीच में वे दोनो कापियाँ खिसका दीं।

इसके बाद वह सबसे अगली पंक्ति के बीच के डेस्क पर बैठ गया, और जेब से विलायती मिठाई निकाल-निकालकर खाने लगा। पंडितजी के चारों ओर लड़कों का परदा था। हेडमास्टर को मैनेजर साहब के बँगले की ओर जाते हुए उसने देख लिया था।

कई तरह की गोलियाँ, जो मुँह में घुलते-घुलते रंग बदलती थीं, औरेंज-लेमन-ड्राप्स आदि कई प्रकार की मिठाइयों से वह जेब भर लाता था। वह बीच-बीच में उन्हें खाता और खिलाता रहता था। वह एक तरह की पिपरमिंट की टिकियाँ भी लाता था। उनके बीच में अँगरेजी-वर्णमाला का एक-एक अक्षर भी अंकित होता था। शास्त्रीजी के सामने वह बेधड़क उन्हें मुँह में डालता जाता था। वह जब उसे खाने से मना करते थे, तो उनसे कहता था—"पंडितजी, यह विलायती मिठाई है, जलेबी नहीं है, क्या आप देखते नहीं, इसके बीच में अक्षर छपे हैं। यह खाते वक्त पढ़ी जाती है, और पढ़ते समय खाई जाती है।" वह एक टिकिया उनके सामने रखकर

मिल्टन, स्कॉट के अतिरिक्त शिक्षा-शास्त्र और स्कूल-प्रबंध पर भी अनेक पुस्तकें थीं। भोजन और शयन के कमरे भी अलग अलग सुसज्जित थे।

मिस्टर सनलाइट साहब पढ़ाने में प्रवीण, प्रबंध में दक्ष और शासन में चतुर थे। स्कूल ठीक समय पर आते-जाते थे, और हिसाब-किताब अप-टू-डेट रखते थे।

स्कूल के सात घंटों में वह पहले चार घंटे पढ़ाते थे। एक घंटा आफिस का काम देखते थे, एक घंटा स्कूल के निरीक्षण का था, और एक घंटा उनके अवकाश का था। आफ़िस में उन्हें एक क्लर्क भी मिला हुआ था। उनके अंतिम तीन घंटे प्रायः दफ़्तर में ही बीतते थे। उस समय वह हिसाब-किताब की जाँच करते थे, टाइप-राइटर खटखटाकर स्कूल का पत्र-व्यवहार करते थे। निजी पत्र भी वह वहीं लिखते थे, और उनका दैनिक पत्र भी वहीं खुलता था।

सालाना परीक्षा निकट थी। बीच में एक सोमवार था, दूसरे सोमवार से आरंभ थी।

वह सनीचर का दिन था। प्रजापति के दरजे में शास्त्रीजी थे। स्कूल का अंतिम घंटा था। शास्त्रीजी उसमें हिंदी पढ़ाते थे। आज श्रुत-लेख की बारी थी। शास्त्रीजी ने उसे लिखाकर एक बार फिर दुहराया। इसके बाद तमाम लड़के कापियाँ लेकर भड़-भड़ करते हुए उठे, और उनके सामने मेज़ पर उनका ढेर लगा, उन्हें घेरकर खड़े हो गए। प्रजापति के कुछ वाक्य

छूट गए थे। उसने अपने पास के एक लड़के की कापी रोक ली, और उसमें से नक़ल करने लगा। उसने नक़ल कर दोनो कापियाँ उठाईं, और शास्त्रीजी की मेज़ की ओर चला। वहाँ पहुँचकर उसने अपनी दृष्टि शास्त्रीजी की ओर स्थिर की। कापियों के ढेर के बीचोबीच अपना हाथ डालकर कुछ कापियाँ ऊपर को उठाईं, चुपचाप बीच में वे दोनो कापियाँ खिसका दीं।

इसके बाद वह सबसे अगली पंक्ति के बीच के डेस्क पर बैठ गया, और जेब से विलायती मिठाई निकाल-निकालकर खाने लगा। पंडितजी के चारों ओर लड़कों का परदा था। हेडमास्टर को मैनेजर साहब के बँगले की ओर जाते हुए उसने देख लिया था।

कई तरह की गोलियाँ, जो मुँह में घुलते-घुलते रंग बदलती थीं, औरेंज-लेमन-ड्राप्स आदि कई प्रकार की मिठाइयों से वह जेब भर लाता था। वह बीच-बीच में उन्हें खाता और खिलाता रहता था। वह एक तरह की पिपरमिंट की टिकियाँ भी लाता था। उनके बीच में अँगरेज़ी-वर्णमाला का एक-एक अक्षर भी अंकित होता था। शास्त्रीजी के सामने वह बेधड़क उन्हें मुँह में डालता जाता था। वह जब उसे खाने से मना करते थे, तो उनसे कहता था—"पंडितजी, यह विलायती मिठाई है, जलेबी नहीं है, क्या आप देखते नहीं, इसके बीच में अक्षर छपे हैं। यह खाते वक्त पढ़ी जाती है, और पढ़ते समय खाई जाती है।" वह एक टिकिया उनके सामने रखकर

कहता—"लीजिए, आप भी इसे पढ़िए और चखिए। इसमें है क्या, चीनी और पिपरमिंट। इससे धर्म न जायगा। यह गले को साफ़ करती है कि पढ़ने में उच्चारण स्पष्ट हो। इससे साँस और हवा सुगंधित होती है कि आस-पास के लड़कों का भी मन पढ़ने में लगा रहे।"

वह मिठाई खाते-खाते इधर-उधर मित्रों की ओर भी फेंकने लगा। वे उसे हाथों से चूम-चूमकर मुख में रखने लगे। कई लड़कों का ध्यान उसकी ओर बँट गया। वे पंडितजी की ओर से आँखें फेर-फेरकर उससे मिठाई माँगने लगे।

लोचन उससे मिठाई माँगता-माँगता थक गया था, पर उसने उसे एक टुकड़ा भी नहीं दिया था। एक बार "ले" कहकर उसने उसकी ओर मिठाई फेंकने की कृति प्रकट की थी। लेकिन उसके हाथ पसारने पर झट दूसरे की ओर फेंक दी। इसी प्रकार एक बार और उसने लोचन को ठगा। फिर लोचन ने उसकी ओर नहीं देखा, और पंडितजी की तरफ़ अटल ध्यान लगाया।

प्रजापति ने कई बार उसे मिठाई का प्रलोभन दिया, पर लोचन ने न उसकी ओर अपनी दृष्टि की, न हाथ ही बढ़ाया। प्रजापति ने अंतिम बार लोचन से कहा—"विद्या की शपथ, इस बार जरूर दूँगा। ले लोचन! सालाना परीक्षा में मेरे आस-पास तेरी सीट हुई, तो बतावेगा न?"

लोचन ने मानो सुना ही नहीं। उसकी कापी शुद्ध हो चुकी

थी, उसमें एक भी गलती नहीं मिली थी। प्रजापति ने फिर कहा—"ले, लेता क्यों नहीं? इस बार धोखा दूँ, तो कभी विश्वास ही न करना।"

लोचन ने अपने दोनो कानों में अपने दोनो हाथों की तर्ज-नियाँ कोच लीं। उसके प्रजापति की ओर के हाथ में उसकी कापी भी थी। प्रजापति को यह अवहेलना अच्छी न लगी। उसने "अरे ले" कहकर एक मिठाई की गोली खींचकर उसके हाथ में मारी।

लोचन के उसी हाथ में अँगूठे के पास हॉकी की स्टिक लगी थी। वह घाव अभी बिलकुल पूरा नहीं हुआ था, पर लोचन ने पट्टी खोल दी थी। उसी घाव पर प्रजापति का निशाना लगा।

लोचन ने चीत्कार छोड़ी—"दैया रे दैया!" उसके हाथ से उसकी कापी मेज की दिशा में गिर पड़ी। उसने कान के पास हाथ को कई बार झटककर दूसरे हाथ से उसकी कलाई दबाई।

उसके हाथ से जब कापी छूट रही थी, उसी समय दरजे का मॉनीटर पंडितजी के लिखने के लिये दूसरी दावात मेज पर रख रहा था। कापी उसी के हाथ पर गिरी और उसके हाथ की दावात उस खुले हुए हाजिरी के रजिस्टर पर पड़ी, जिसका टोटल जोड़ते हुए शास्त्रीजी ने दरजे में प्रवेश किया था। उनका टोटल मिला नहीं था। इसी से वह रजिस्टर उन्होंने खुला हुआ ही मेज के एक ओर रख दिया था।

मॉनीटर ने रजिस्टर को बचाने के मतलब से उठाया।

दावात कुर्सी की ओर बल खाती हुई शास्त्रीजी की गोद में गिर पड़ी। दावात से बिखरी हुई रोशनाई ने शास्त्रीजी के रजिस्टर में भी छाया-चित्र बनाया, और उनके सफ़ेद कोट, कुरते और धोती में भी बेल-बूटे काढ़े।

सबसे पहले उन्हें रजिस्टर की चिंता करनी पड़ी। क्योंकि महीने के अंत में उन्हें हेडमास्टर साहब की ओर से हर काट-कूट पर धमकियाँ और हर दाग़-धब्बे पर फटकारें मिलती थीं। उन्होंने उसी क्षण रजिस्टर पर पड़ी रोशनाई के ऊपर खड़िया की बत्ती फेर दी, और उसे बंद कर दिया। फिर क्रुद्ध हो डंडा हाथ में लेकर घुमाया, और सबसे बैठ जाने को कहा। सब लड़के कूदते और शोर मचाते हुए अपनी-अपनी जगह चले गए। प्रजापति सबसे पहले पहुँच चुका था।

इसके बाद शास्त्रीजी ने बोर्ड की खूँटी पर से झाड़न निकाला। उससे मेज़ पर गिरी रोशनाई पोंछ डाली। कपड़ों पर के धब्बे सूख चुके थे। मॉनीटर लोचन के पास खड़ा उसे धीरज दे रहा था। उसने अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछ डाले थे। घाव केवल दुख गया था, उससे रक्त नहीं निकला था।

अब शास्त्रीजी ने मेज़ पर डंडा पटककर कहा—"बोलो, यह शरारत किसने की?"

सब लड़कों से पहले बड़ी आवाज़ में प्रजापति ने कहा—"हम नहीं जानते।"

फिर सब लड़कों ने उसी का अनुकरण किया। लोचन भी

प्रजापति के डर से इस प्रकार चुप खड़ा था, मानो उत्पाती लड़के को जानता ही न था।

शास्त्रीजी ने फिर पूछा—"मॉनीटर, तुम बताओ, इसका हाथ किसने दुखाया, दावात किसने गिराई?"

मॉनीटर ने कुछ लज्जित होकर कहा—"पंडितजी, दावात तो गिरी मेरे हाथ से है, पर उसे मैंने नहीं गिराया। किसी ने मेरे हाथ के ऊपर कापी फेंक दी, जिससे वह रजिस्टर पर गिर पड़ी।"

शास्त्रीजी को फिर रजिस्टर की याद आई, और फिर उन्हें सनलाइट साहब की धमकियों का खयाल हुआ। उन्होंने ज्वालामय होकर कहा—" अच्छा, नहीं बताओगे तुम? कापी किसने फेंकी?"

प्रजापति मन-ही-मन कह रहा था—"वाह, क्या निशाना मारा है। लोचन का हाथ, फिर उस हाथ की कापी, दावात, रजिस्टर, मेज और पंडितजी के कपड़े।" वह इस गड़बड़ में अनुपम आनंद ले रहा था, और ईश्वर से बार-बार यही मनाता था कि हे परमेश्वर! हेडमास्टर साहब आज अब स्कूल में न आवें। उसके हिसाब से स्कूल की आखिरी घंटी अब तक बज जानी चाहिए थी, पर उसे समय बड़ा लंबा मालूम देने लगा।

लोचन ने कहा—"पंडितजी, कापी मेरे हाथ से गिरी। उसे मैं अपने चोट लगे हुए हाथ में थाँमे था। हाथ के दुखने पर

कापी अपने आप उससे गिर पड़ी। मेरा उस पर बस ही नहीं रहा।"

हेडमास्टर साहब बड़ी देर हुई तभी लौटकर आ गए थे। वह आकर कुर्सी पर बैठे-बैठे "स्टेट्समैन" के पत्रों पर ऊँघ रहे थे। उनका क्लर्क इंस्पेक्टर साहब की किसी पूछ-ताँछ का उत्तर मशीन पर खटखटा रहा था।

"दैया रे! दैया!" की चीत्कार सुनकर हेडमास्टर साहब का दिवा-स्वप्न भंग हुआ। वह अखबार दूर रखकर उठे, और बेत हाथ में लिया।

दरजे में अपना पाठ न सुनानेवाले लड़के को हेडमास्टर साहब इतना बुरा न समझते थे, जितना उसमें अनियम और अशांति फैलानेवाले को गिनते थे। ऐसे अवसर पर वह उसे खूब पीटने में जरा भी संकोच न करते थे। फिर भी इसकी सीमा थी। प्रजापति उस सीमा के बाहर था। प्रजापति के ऊपर वह सोच-समझकर ही बेत छोड़ते थे, उसकी आई हुई शिकायतों को यों ही टाल जाते थे।

उन्होंने कुछ देर तक आफिस से ही शास्त्रीजी के दरजे की घटना सुनी। जब उन्होंने मामले को गंभीर और शास्त्रीजी को दोषी का पता लगाने में अक्षम समझा, तब वह उस दरजे की ओर चले। प्रवेश-द्वार पर पहुँचते ही उन्होंने उसमें लगातार जल्दी-जल्दी बेत की चोटें मारकर तीव्र स्वर में कहा—"ऑर्डर, ऑर्डर. खामोश. क्या मामला है?"

सब लड़के स्तब्ध हो गए। उन्होंने दरजे में प्रवेश किया, और लड़कों ने चुपचाप उठकर उनका सम्मान किया। मॉनीटर अपनी जगह पर बैठ चुका था; और लोचन शांत होकर अपनी जगह जाने लगा था।

हेडमास्टर साहब ने कहा—"कहाँ जाते हो? यहीं पर खड़े रहो।"

लोचन वहीं खड़ा रह गया। हेडमास्टर साहब शास्त्रीजी के कपड़ों पर होली खिली हुई देखकर मन-ही-मन हँसने लगे। उन्होंने प्रजापति की ओर देखा, और उसे अपराध से अपरिचित, गंभीर भाव से पुस्तक के पत्र उलटते हुए पाया। वे उसे इस शरारत में शामिल न समझ, कुछ कठोर होकर अपराधी के अनुसंधान में लगे। कापी लोचन के हाथ से गिरी, यहाँ तक उन्होंने ऑफिस से सुना था। उन्होंने लोचन को ही अपराधी समझा, और गरजकर उससे पूछा—"तुमने क्यों मॉनीटर के हाथ पर कापी गिराई?"

लोचन—"मैंने जान-बूझकर कापी नहीं गिराई। किसी ने मेरे चोट लगे हुए हाथ को दुखा दिया, इसी से कापी गिर गई।"

हेडमास्टर साहब अब जरा शंकित हुए। वह अभी तक प्रजापति को उस षड्यंत्र में शामिल न देखकर आश्चर्य कर रहे थे। उस दरजे की अशांति और गड़बड़ के साथ प्रजापति का नाम जुड़ा हुआ था, हेडमास्टर साहब इस बात को खूब जानते थे। वह सारी शरारत की जड़ पर अब पहुँचे, और

निश्चय करने लगे, लोचन का हाथ दुखाने में जरूर प्रजापति ही का हाथ है। इस कारण उन्होंने कुछ नरम पड़कर कहा—"तुम्हारा हाथ किसने दुखाया ?"

प्रजापति ने तीक्ष्ण दृष्टि से लोचन की ओर देखा और उसकी सारी क्षति पूरी कर देने का नीरव संदेश पहुँचाया। लोचन ने हेडमास्टर साहब को उत्तर देना आरंभ किया, नहीं; वह उससे भी पहले रुक गया था।

हेडमास्टर साहब को अब पूरा निश्चय हो गया कि जरूर प्रजापति ही अपराधी है। उसे सजा देने में हेडमास्टर साहब डरते थे। कदाचित् यह उसके पिता की इकट्ठी की हुई संपत्ति का प्रभाव हो।

हेडमास्टर साहब ने साधारण रीति से फिर पूछा—"डरते क्यों हो लोचन! कहो, तुम्हारा हाथ किसने दुखाया ?"

लोचन ने हाथ की पीड़ा का फिर अनुभव कर कहा—"मुझे नहीं मालूम, मैंने नहीं देखा। मेरा ध्यान पंडितजीकी ओर था।"

हेडमास्टर साहब ने सारे दरजे से पूछा, किसी ने नहीं बताया। वे यही चाहते भी थे कि प्रजापति अपराधी न प्रमाणित हो। अंत में उन्होंने प्रजापति से हँसकर कहा—"क्यों प्रजापति, तुमने इसका हाथ दुखाया ?"

प्रजापति उनकी दुर्बलता को पकड़कर शांत-भाव से उठा, और बोला—"नहीं साहब, मैं तो बड़ी देर से पुस्तक देख रहा हूँ।"

अंत में हेडमास्टर साहब ने सारा दोष शास्त्रीजी के सिर

पर रखते हुए कहा—"शास्त्रीजी, मैं कई बार आपसे कह चुका हूँ, लड़कों को इस तरह अपनी मेज़ के चारों ओर खड़ाकर कापियाँ शुद्ध न किया कीजिए। इस तरह आधा दरजा काम करता है, और आधा आपकी दृष्टि की ओट में उत्पातों में नियुक्त होता है। भविष्य में हरएक की सीटों पर जाकर ही कापियाँ शुद्ध की जावें।"

शास्त्रीजी बोले—"मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मुझे हरएक की सीट पर जाने में कुछ भी आलस्य नहीं। पर एक निवेदन है, विद्यार्थी अपनी ग़लती के सुधार से भी सीखता है, और दूसरे की भूल देखकर भी ठोकर से बचता है। सब लड़कों को मेज़ के चारों ओर इकट्ठा करने से मेरा मतलब है, वे सब अपनी-अपनी भूलों को देखने के साथ-ही-साथ आपस में एक दूसरे के दोषों पर भी ध्यान देकर अपना सुधार करें।"

स्कूल की अंतिम घंटी बजी। और दिन सब लड़के सबक चाहे पूरा हो या न हो, घंटी बजते ही शास्त्रीजी से पहले उठकर ऊधम मचाते हुए भाग जाते थे। पर आज हेडमास्टर साहब और उनके डंडे के कारण सब मूक और स्थिर थे। हेडमास्टर साहब ने सब लड़कों को जाने का संकेत दिया। वे बड़े विनय, शील और धीरता के साथ अपना-अपना बस्ता बग़ल में दाबकर विदा हुए।

सब लड़कों के चले जाने के बाद उन्होंने शास्त्रीजी से कहा—"आपकी बात में तत्त्व ज़रूर है, पर हमें करना तो वही

हैं, जो इंस्पेक्टर साहब को पसंद है। उन्होंने अपनी पिछली रिपोर्ट में भी इस प्रथा को बहुत निकम्मी और गंदी बतलाया है। शिक्षा की नवीन प्रणाली भी इसे अनुमोदित नहीं करती।"

शास्त्रीजीने निस्तेज होकर कहा—"जैसी आपकी आज्ञा हो।"

हेडमास्टर साहब आफ़िस में से अपना टोप और चश्मा पहनकर घर को विदा हुए। शास्त्रीजी ने रजिस्टर उठाकर आफ़िस में रख दिया, और अपनी स्कूली पाठ्य पुस्तकों का बंडल सँभाल, कपड़ों पर के धब्बों को किसी तरह छिपाकर घर चले। यह पुस्तकों का भार हेडमास्टर को छोड़कर और प्रायः सभी मास्टरों को, हर स्कूल के दिन, घर से स्कूल और स्कूल से घर तक, ढोना पड़ता था। यह इस बात की साक्षी थी कि वे दरजे में पाठ पढ़ाने से पहले घर से स्वयं उसका अनुशीलन करके आए हैं।

उस दिन प्रजापति ने लोचन को अपने घर ले जाकर भर-पेट मिठाई खिलाई।

दूसरा सनीचर आया। बीच में इतवार और तीसरे दिन से परीक्षा का आरंभ था। परीक्षा का समय-विभाग नोटिस-बोर्ड में चिपका दिया गया। आज लड़कों के रोल-नंबर भी प्रकाशित किए गए। हॉल में परीक्षार्थियों की सीटें लगा देने के उद्देश्य से उस दिन स्कूल में सब लड़कों की हाजिरी ले लेने के बाद ही छुट्टी दे दी गई। प्रजापति भी समय-विभाग और

अपने रोल-नंबर को कापी में लिखकर परीक्षा की चिंता करता हुआ घर लौट गया।

आज उसे एक क्षण-भर को भी फ़ुरसत न थी। उसने किताबों के "ज़रूरी" पाठों और पंक्तियों में लाल, नीली और काली पेंसिलों के चिह्न और रेखाएँ बना रक्खी थीं। अब उसकी दो दिन की चिंता यही थी कि वह सब 'ज़रूरी' किस माध्यम से स्कूल के अंदर, परीक्षा-भवन में, ले जाया जाय।

कुछ उसने अपनी स्मृति पर छोड़ दिया, कुछ पास बैठने-वाले लड़कों के सहायता-वचन के सिपुर्द किया, कुछ हिस्सा संक्षिप्त कर उसने परचों पर लिखा, जो कुछ नहीं लिखा गया, उन पुस्तकों के पेज ही फाड़कर उसने संग्रह किए और कुछ पुस्तकें ही उसने जेब में रखकर परीक्षा-भवन में ले जाना निश्चित किया।

उस दिन सबके स्टूल और डेस्क लगा दिए गए। स्कूल के हॉल में सब परीक्षार्थियों के बैठने की जगह न थी, इससे कुछ सीटें हॉल से संलग्न एक और दरजे में भी रख दी गईं। उस दरजे में हेडमास्टर साहब ने स्वयं गार्ड बनकर चौकसी करना निश्चित किया। स्कूल के तमाम परीक्षा में चोरी करनेवाले लड़कों की सीटें वहीं रक्खी गईं। प्रजापति को यह भेद किसी प्रकार मिल गया था।

इतवार के दिन सब लड़कों के डेस्कों पर लड़कों के रोल-नंबर, नाम और दरजे की चिटें चिपका दी गईं।

है, जो इंस्पेक्टर साहब को पसंद है। उन्होंने अपनी पिछली रिपोर्ट में भी इस प्रथा को बहुत निकम्मी और गंदी बतलाया है। शिक्षा की नवीन प्रणाली भी इसे अनुमोदित नहीं करती।"

शास्त्रीजीने निस्तेज होकर कहा—"जैसी आपकी आज्ञा हो।"

हेडमास्टर साहब आफ़िस में से अपना टोप और चश्मा पहनकर घर को विदा हुए। शास्त्रीजी ने रजिस्टर उठाकर आफ़िस में रख दिया, और अपनी स्कूली पाठ्य पुस्तकों का बंडल सँभाल, कपड़ों पर के धब्बों को किसी तरह छिपाकर घर चले। यह पुस्तकों का भार हेडमास्टर को छोड़कर और प्राय: सभी मास्टरों को, हर स्कूल के दिन, घर से स्कूल और स्कूल से घर तक, ढोना पड़ता था। यह इस बात की साक्षी थी कि वे दरजे में पाठ पढ़ाने से पहले घर से स्वयं उसका अनुशीलन करके आए हैं।

उस दिन प्रजापति ने लोचन को अपने घर ले जाकर भर-पेट मिठाई खिलाई।

दूसरा सनीचर आया। बीच में इतवार और तीसरे दिन से परीक्षा का आरंभ था। परीक्षा का समय-विभाग नोटिस-बोर्ड में चिपका दिया गया। आज लड़कों के रोल-नंबर भी प्रकाशित किए गए। हॉल में परीक्षार्थियों की सीटें लगा देने के उद्देश्य से उस दिन स्कूल में सब लड़कों की हाज़िरी ले लेने के बाद ही छुट्टी दे दी गई। प्रजापति भी समय-विभाग और

अपने रोल-नंबर को कापी में लिखकर परीक्षा की चिंता करता हुआ घर लौट गया।

आज उसे एक क्षण-भर को भी फ़ुरसत न थी। उसने किताबों के "जरूरी" पाठों और पंक्तियों में लाल, नीली और काली पेंसिलों के चिह्न और रेखाएँ बना रक्खी थीं। अब उसकी दो दिन की चिंता यही थी कि वह सब 'जरूरी' किस माध्यम से स्कूल के अंदर, परीक्षा-भवन में, ले जाया जाय।

कुछ उसने अपनी स्मृति पर छोड़ दिया, कुछ पास बैठनेवाले लड़कों के सहायता-वचन के सिपुर्द किया, कुछ हिस्सा संक्षिप्त कर उसने परचों पर लिखा, जो कुछ नहीं लिखा गया, उन पुस्तकों के पेज ही फाड़कर उसने संग्रह किए और कुछ पुस्तकें ही उसने जेब में रखकर परीक्षा-भवन में ले जाना निश्चित किया।

उस दिन सबके स्टूल और डेस्क लगा दिए गए। स्कूल के हॉल में सब परीक्षार्थियों के बैठने की जगह न थी, इससे कुछ सीटें हॉल से संलग्न एक और दरजे में भी रख दी गईं। उस दरजे में हेडमास्टर साहब ने स्वयं गार्ड बनकर चौकसी करना निश्चित किया। स्कूल के तमाम परीक्षा में चोरी करनेवाले लड़कों की सीटें वहीं रक्खी गईं। प्रजापति को यह भेद किसी प्रकार मिल गया था।

इतवार के दिन सब लड़कों के डेस्कों पर लड़कों के रोल-नंबर, नाम और दरजे की चिटें चिपका दी गईं।

प्रजापति ने कुछ अँधेरा होने दिया। वह कई दिन से खेलने और टहलने नहीं गया था। स्कूल की ओर चला। स्कूल के बाहर, सदर फाटक के पास, फील्ड में, अभी तक दो-चार लड़के खेल ही रहे थे। उसने दूसरा रास्ता लिया, और स्कूल के पीछे पहुँच गया। वहाँ स्कूल की लोहे के काँटों से जड़ी दीवाल के बाहर एक इमली का पेड़ था। वहाँ पर वह ठहर गया, और एक परिचित चाटवाले की नजर बचाकर पेड़ पर चढ़ गया। पेड़ की एक शाखा स्कूल की सीमा के भीतर फैली हुई थी। प्रजापति उसकी सहायता से स्कूल की हद में कूद गया।

दूर एक कोने में चौकीदार की झोपड़ी थी। उसने वहाँ जाकर देखा, वह रोटी सेंकने में तल्लीन था। उसने उसके सामने के आटे पर दृष्टि की, वह पर्याप्त था। पंद्रह-बीस मिनट से पहले वह उसकी रोटियाँ नहीं बना सकता था। प्रजापति भागकर सदर रास्ते की ओर आया। फील्ड खाली हो गया था, स्कूल का पथ शून्य था।

इसके बाद उसी तीव्र गति से प्रजापति फिर स्कूल के पीछे की ओर चला गया। उधर ही उसका दरजा था। वहाँ बिलकुल ही सन्नाटा था। तीस गज की दूरी पर बिजली के तार के खंभे में जो बल्ब जलता था, उसकी क्षीण ज्योति स्कूल के अंदर के वृक्षों ने रोक ली थी। प्रजापति के दरजे के द्वार पर और सामने अँधेरा था।

वह अपने दरजे के दरवाजे पर गया और धीरे-धीरे उसे

खटखटाने लगा। इस दरवाजे का भेद चौकीदार और प्रजापति के सिवा और शायद ही किसी को मालूम हो। बात यह थी, द्वारों के ऐंठ जाने के कारण उसके नीचे की चिटकनी कभी लगती ही न थी। चौकीदार ने उस पर परिश्रम करना छोड़ दिया था। वह केवल उसके ऊपर की चिटकनी बंद करके चल देता था।

एक दिन की बात है। प्रजापति खेल से तृप्त होकर किसी विचार को लिए, अपने दरजे के उसी दरवाजे पर बैठा हुआ था। बैठे-बैठे वह वहाँ पर गुनगुनाने लगा। गाते-गाते अपने सिर से दरवाजे पर ताल भी देने लगा। कुछ देर में ऐसा हुआ कि ऊपर की चिटकनी खुल गई, और वह द्वारों के साथ स्कूल के अंदर जा पहुँचा। वह सँभल गया, उसे ठेस भी नहीं लगी। बंद स्कूल के भीतर एक रास्ता पाकर वह मन-ही-मन प्रसन्न हुआ, और विचारने लगा, किसी दिन जरूर इसका उपयोग किया जायगा। वह किसी प्रकार द्वार को अटकाकर अपने घर चला आया। उसने यह बात किसी पर भी प्रकट न की।

आज उसके उपयोग की बारी आ गई थी। उसने फिर खटखटाया। बीच-बीच में दरवाजे को अपनी ओर भी खींचता जाता था। एक बार उसका परिश्रम सफल हुआ, और दरवाजा खट से खुल गया। दरवाजा वैसे ही छोड़कर वह एक बार फिर चौकीदार और स्कूल के सामने अपनी दृष्टि दौड़ाकर भाग आया।

उसने दरजे के भीतर प्रवेश कर दरवाजा बंद कर लिया।

इसके बाद उसने मोमबत्ती जलाकर उसकी मदद से हॉल में अपने एक मित्र का डेस्क और उससे संलग्न कमरे में अपना डेस्क खोज लिया। उसने पहचान के लिये अपने मित्र के डेस्क के ऊपर अपनी टोपी और अपने डेस्क के ऊपर दियासलाई की डिबिया रख दी। इसके बाद उसने मोमबत्ती बुझा दी, और अँधेरे में हेडमास्टर साहब के प्रबंध में संशोधन करने लगा।

वह सावधानी से हॉल के पिछले कोने में गया। वहाँ पर जो डेस्क लगा था, उसने उसे अपने सिर पर उठाकर एक अलग स्थान में रक्खा, उसकी जगह में अपना वह दियासलाईवाला डेस्क उठाकर रख दिया, और उस डेस्क को अपने डेस्क के स्थान में ले गया। इसके बाद उसने अपने समीप का एक दूसरा डेस्क उठाया, और उसके और उस टोपीवाले डेस्क के स्थानों का आपस में परिवर्तन कर दिया। उसने एक बार फिर दियासलाई जलाकर देख लिया कि कहीं कोई भूल तो नहीं रह गई।

इसके बाद वह बाहर आया, और उस खुले दरवाजे को पत्थरों की मदद से अटका दिया कि कहीं हवा लगने से खुल न जायँ।

वह ज्यों ही वहाँ से जाना चाहता था कि उसे सामने से दो लड़के उसी ओर आते दिखाई दिए। वह दबे पैर झपटकर दफ़्तर की ओर बढ़ा, और नोटिस-बोर्ड के सामने दियासलाई जलाकर टाइम-टेबिल पढ़ने लगा।

वे दोनो आनेवाले। वहीं पर आ पहुँचे। उनमें से एक ने प्रजापति को पहचानकर कहा—"कौन, प्रजापति! क्या टाइम-टेबिल देख रहे हो? तुम्हें दिन-भर पढ़ने से फ़ुरसत नहीं मिली, क्यों?"

प्रजापति ने दूसरी दियासलाई जलाते हुए कहा—"और अपनी तो कहो, तुम्हें क्यों यही वक़्त पसंद हुआ?"

आगंतुक ने जेब में से मोमबत्ती निकाली, और प्रजापति की जलती हुई दियासलाई से उसकी शिखा मिलाते हुए बोला—"हम दोनो छुट्टी लेकर गाँव गए थे न? पाँच रोज़ बाद आज अभी वापस आए हैं।"

उसकी मोमबत्ती जलने लगी थी, प्रजापति ने दियासलाई फेंक दी। इसके बाद उस विद्यार्थी ने मोमबत्ती टाइम-टेबिल की ओर बढ़ाई और प्रजापति से कहने लगा—"लो, अब आराम से देखो।"

प्रजापति ने जाने का उपक्रम कर कहा—"मैं देख चुका हूँ, टाइम-टेबिल तो मैं सनीचर के दिन ही उतार ले गया था। कुछ ग़लती रह गई थी, उसे ठीक करने आया था। अब कोई ज़रूरत नहीं है।"

दूसरा विद्यार्थी पेंसिल से एक काग़ज़ पर टाइम-टेबिल की नक़ल करने लगा। प्रजापति उन्हें छोड़कर आगे बढ़ा। उसने देखा, चौकीदार रोटी सेंक चुका था, और मुँह पर

का पसीना पोछता हुआ 'मैं बैरी सुगरीव पियारा" गा रहा था।

दूसरे दिन सुबह आठ ही बजे खा-पीकर प्रजापति परीक्षा देने के लिये स्कूल चला। आज उसका अँगरेजी का परचा था। अँगरेजी की किताब की 'की' उसके कोट की भीतरी जेब में थी। एक जरूरी कहानी का अँगरेजी में संक्षिप्त सार उसके एक जूते के अंदर था। एक जरूरी कविता का गद्य-रूप उसके दूसरे जूते में था। कुछ नोट्स उसकी हथेलियों में लिखे थे। कुछ किताब से फाड़े हुए पत्र उसके कुरते की जेब और टोपी में थे। अँगरेजी की क़लम सँभालकर वह चला। एक अलग निब भी उसने रख ली थी।

वह स्कूल पहुँच गया। पर अभी स्कूल नहीं खुला था। उसने स्कूल के पिछले भाग में जाकर देखा, वह द्वार उसी प्रकार बंद था।

उसके कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद जब चौकीदार ने स्कूल खोला, तो प्रजापति उसके साथ ही अंदर प्रविष्ट हुआ। चौकीदार इधर-उधर के दरवाजों को खोलने लगा। प्रजापति ने अपने दरजे में जाकर वह खुला द्वार बंद कर दिया। इसके बाद प्रजापति हॉल में आया, और चौकीदार के सामने अपनी सीट खोजने का बहाना किया। उसे पाया और उसमें बैठ गया।

कुछ याद आते ही चौकीदार उसे खोजता हुआ वहाँ पर आ पहुँचा था, कहने लगा—"आपने तो सुबह भी नहीं होने

दो। अभी से कुर्सी पर बैठकर क्या करोगे? चलिए, बाहर चलिए। हेडमास्टर साहब कल जाते वक़्त मुझसे कह गए थे कि मास्टरों के आने तक हॉल में किसी भी विद्यार्थी को न जाने दूँ।

प्रजापति उठते हुए कहने लगा—"तुम्हारे हेडमास्टर साहब के हुक्मों की बड़ी मार है, ये जीने न देंगे क्या?"

चौकीदार और प्रजापति दोनों बाहर चले। मार्ग में चौकीदार बोला—"बाबू, सिगरेट न पिलाओगे?" इसके बाद वह उसकी जेब की ओर हाथ बढ़ाने लगा।

प्रजापति ने जल्दी से बाहर की ओर भागकर कहा—"चल मूर्ख! मैं कहीं सिगरेट पीता हूँ क्या?"

चौकीदार कहने लगा—"कल कहाँ से दी थी? अच्छा, जेब दिखाओ।"

प्रजापति की जेब में पुस्तक थी। वह फ़ील्ड की ओर भागते हुए कहने लगा—"बोलो मत, आज परीक्षा का दिन है, फिर ले लेना।"

चौकीदार घंटा बजाने लगा। क्रमशः लड़के, मास्टर और हेडमास्टर आए। कापियाँ दी गईं, परचे बँटे, परीक्षा आरंभ हुई।

सात दिन उसे परीक्षा में सम्मिलित होना पड़ा। वह बड़े आनंद से पुस्तकें और परचे अपने साथ लाता और उस कोने में बैठकर नक़ल करता था। आस-पास के लड़कों से काना-

फुसी कर उत्तर मालूम करता। उसकी चोरी कदाचित् मास्टरों में से किसी को भी मालूम नहीं हुई। हेडमास्टर साहब को यह भी सुधि नहीं रही कि प्रजापति की सीट कहाँ-से-कहाँ चली गई।

परीक्षा समाप्त हुई, पर अभी परीक्षा-फल नहीं निकला था। मास्टर लोग कापियों को शुद्ध कर नंबर देने में जुटे हुए थे।

इसी बीच में प्रजापति के पिता को रेल-विभाग में कहीं बाहर एक बहुत बड़ा ठेका मिल जाता है। वह वहाँ अपने एक खास आदमी का सदैव रहना जरूरी समझने लगे। वह स्वयं वहाँ सदा नहीं रह सकते थे। उन्होंने एक दिन यह भार प्रजापति के सिर पर रख देना निश्चित किया, उनकी समझ में प्रजापति काफी बड़ा हो गया और पढ़-लिख भी गया था। प्रजापति भी उसी क्षण तैयार हो गया। वह पुस्तक पढ़ाई और परीक्षा से पूर्ण तृप्त हो चुका था। उसके पिता ने हेडमास्टर साहब से ये सब बातें जाकर कह दीं।

हेडमास्टर साहब ने उत्तर दिया—"अच्छी बात है, पर जल्दी क्या है। पाँच-सात दिन ठहर जाइए, परीक्षा-फल निकलने दीजिए, तभी सार्टिफिकेट दूँगा, तब तक आप लड़के को स्कूल से छुड़ा लेने की एक अर्जी मेरे पास भेज दीजिएगा।"

प्रजापति के पिता उस पर राजी हो गए, दूसरे दिन तमाम स्कूल के लड़कों और मास्टरों को यह विदित हो गया कि प्रजापति अब पाँच-सात रोज स्कूल में और रहेगा, फिर चला

जायगा। इस कारण उसके प्रति सबकी प्रीति बढ़ चली। इस चिर-बिछोह की कल्पना कर प्रजापति के मनःराज्य में बड़ा अद्भुत परिवर्तन हो गया। अब दरजे में वह धीर और शांत रहने लगा।

शास्त्रीजी घर पर प्रजापति के दरजे की परीक्षा की कापियाँ शुद्ध कर रहे थे। प्रजापति की कापी सामने आई कुछ पेज देखने के बाद अचानक उनको उस कापी के बीच में, हिंदी की किताब का, एक फटा पत्र मिलता है। प्रजापति ने उस पत्र से कुछ नक़ल किया होगा, पर जल्दी में वह उस पेज को उसी के अंदर भूल गया। शास्त्रीजी ने कुछ सोचकर उस पत्र को मोड़ा, और अपनी जेब में रख लिया। शायद हेडमास्टर साहब को उस चोरी का पता देने के लिये नहीं। शास्त्रीजी ने उसके शेष उत्तर देखकर नंबर जोड़े। उनका योग बारह हुआ। पूर्णाङ्क पचास थे, वह फ़ेल हो गया!

उन्होंने अचानक स्कूल से सदा के लिये प्रजापति की बिदाई का ध्यान किया। उन्होंने उस पर दया की, चार नंबर और बढ़ाकर उसे पास कर दिया।

सब मास्टरों के मन में अलग-अलग यही भाव उपजा। सबने उसके प्रति वही कृपा दिखाई। दो-एक विषयों में नक़ल करके वह पास भी हो गया था।

परीक्षा-फल की सूची तैयार हुई। प्रजापति को प्रत्येक विषय में उत्तीर्ण देखकर हेडमास्टर साहब को शक होता है। वह

उसकी परीक्षा की सब उत्तर-कापियाँ इकट्ठा करके शाम को अपने घर ले गए। उन्होंने बारीकी के साथ उनकी फिर जाँच की, और परीक्षकों को उसे नंबर देने में हद से ज्यादा उदार पाया।

इंस्पेक्टर साहब बड़े पुराने अनुभवी थे। स्कूल अपनी दुर्बलताओं को जहाँ पर ढक रखता था, उनकी स्कूल में आकर सबसे पहले वहीं पर दृष्टि पड़ती, और वह तुरंत ही उसे प्रकट कर देते थे। हेडमास्टर साहब ने विचार किया, अब की बार इंस्पेक्टर साहब आकर इसी दरजे की कापियाँ माँगेंगे, और जिन कापियों की जाँच करेंगे, उनमें एक यह भी होगी। उन्होंने फिर कुछ भी नहीं सोचा। बावर्चीखाने में अँगीठी सुलग गई थी। उन्होंने एक-एक कर वे सब कापियाँ उसमें जला दीं।

दूसरे दिन परीक्षा-फल प्रकट हुआ, और प्रजापति सब विषयों में सफल घोषित हुआ।

तीसरे दिन प्रजापति हेडमास्टर साहब से अपना सार्टिफिकेट लेकर विदा हुआ। उसने एक-एक कर सभी मास्टरों से विदा ली। वह शास्त्रीजी के पास भी गया।

शास्त्रीजी ने उसे देखा, और दरजा छोड़कर बाहर आए। बाहर आकर उन्होंने कहा—"मैं स्वयं तुमसे मिलना चाहता था। तुमसे मुझे कुछ कहना है।"

प्रजापति चकित और स्तब्ध खड़ा रहा।

शास्त्रीजी ने अपनी जेब से वह फटा पत्र निकाला। प्रजापति ने उसे देखकर अपना माथा नीचा कर लिया।

शास्त्रीजी ने स्नेह-भरे स्वर में कहा—"नहीं प्रजापति, लज्जित होने की कोई बात नहीं। यह विद्यार्थी-जीवन की भूल है, भविष्य-जीवन के लिये इससे उपदेश ले सकते हो। जाओ, संसार में प्रवेश करो, पर यह याद रखना, पत्र फाड़कर इस तरह चोरी करोगे, तो तुम्हारे जीवन की पुस्तक खंडित हो जायगी। कितनी सुंदर यह कविता है, तुम इसे फाड़कर फेक दोगे क्या ?"

कविता का शीर्षक था—"जीवन का गीत।" किसी अँगरेजी कविता का अनुवाद था।

प्रजापति चुप रहा, शास्त्रीजी ने कहा—"लो, इस फटे पत्र को उसी पुस्तक में चिपका देना। इससे किसी निर्धन विद्यार्थी का काम चल जायगा।"

प्रजापति ने उनके हाथ से वह पत्र लेते हुए कहा—"नहीं, मैं इसका लोभ करूँगा। मैं इसे सोने के चौखटे में लगाकर सदैव अपनी आँखों के सामने रक्खूँगा। परमेश्वर करे, जब मेरे हृदय में चोरी का भाव उठे, इसके दर्शन से वह नष्ट हो जाय, और मैं कभी किसी चीज की चोरी न करूँ।"

शास्त्रीजी ने कहा—"अगर ऐसा कर सको, तो तुम्हारी पुस्तक का यह फटा पत्र तुम्हारे लिये सबसे बड़ी परीक्षा का

सार्टिफिकेट है। कदाचित् संसार का कोई भी विश्वविद्यालय इसे न दे सकता हो।"

प्रजापति ने उस फटे पत्र को सयत्न सँभाला, और शास्त्रीजी को प्रणाम कर विदा हुआ।

शास्त्रीजी चकित होकर उसे देखते ही रहे, ऐसा नटखट लड़का कितनी जल्दी शांत और गंभीर हो गया! प्रजापति ने जाते-जाते अधीर होकर स्कूल की ओर दृष्टि की, अब वह इस जीवन में कभी पुस्तक लेकर वहाँ न जायगा। उसकी आँखें छलछला उठीं, वह अपने को बिलकुल परिवर्तित देखने लगा।

साहित्यिक छल

माधवदास के मन में कविता लिखने की इच्छा का जन्म जब वह स्कूल में पढ़ता था, तब हो गया था। स्कूल के हेड-मास्टर के दूसरे स्कूल को बदल जाने पर, उनकी बिदाई के उत्सव में उसने जो कविता पढ़ी थी, उसकी सब विद्यार्थियों ने सराहना की और वे सब माधवदास को कवि समझने लगे।

माधवदास का एक सहपाठी था। उसके वृद्ध पिता लेखक और कवि थे, पर उनकी हस्त-लिपि अच्छी न थी। माधव-दास के अक्षर साधारणतः सुंदर थे। सहपाठी के पिता ने एक दिन माधवदास से अपनी लिखी एक पुस्तक की सुंदर अक्षरों में नक़ल कर देने की इच्छा प्रकट की। माधवदास उस पुस्तक को लेकर घर आया और उसकी प्रतिलिपि तैयार करने लगा। उसके लिये वह पुस्तक बहुत बड़ी थी। इतना एक साथ लिखने का श्रम उसने कभी नहीं उठाया था। रात को बड़ी देर तक वह लिखता ही रहता था। जब उसका मन थक जाता और हाथ दुखने लगता, तब कहीं वह उसे छोड़ता था। दस-पंद्रह दिन में उसने किसी प्रकार वह पुस्तक पूरी की और उसे अपने सहपाठी मित्र के पिता के पास ले चला। नक़ल पाकर जब

उन्होंने माधवदास के परिश्रम की सराहना की, तो उसने अपनी लिखी एक कविता भी उनके हाथों में रख दी।

उन्होंने उसे पढ़ा, मुस्किराए और बोले—"तुमने निश्चय मिहनत की है। पर भाई! इस विद्या को सीखने के लिये गुरु और शास्त्र की आवश्यकता है, समय और श्रम चाहिए। छंद के नियमों के ज्ञान के बिना लिखने से कविता की अंग-हानि होती है और पाप लगता है।"

पाप की इतनी बड़ी व्यापकता से माधवदास घबरा उठा, साथ ही वह अपने नाम को छापे के अक्षरों में देखने के लिये बेचैन था। उसने कविता लिखना न छोड़ा। स्कूल, घर और खेल के मैदान में भी वह कविता लिखने बैठ जाता था। वह कविता लिखकर अपने सहपाठियों से पूछता था—"यह कविता के समान ज्ञात होती है या नहीं?" उसके सहपाठी उसे फिर दुहराते थे और उसमें छंद की गति पाकर निश्चित करते थे कि यह ज़रूर कविता है, कविता ऐसी ही होती है।

फिर भी उसके मन में गुरु और शास्त्र के दर्शन की इच्छा प्रबल हो उठी। वह, मनुष्य को विशुद्ध कविता का ज्ञान देने-वाले, इन नियमों की कल्पना करता था। वह उन्हें अलौकिक और मंत्र-शक्ति से परिपूर्ण समझता था। उसका विश्वास था कि उनके ज्ञान से फिर उसकी लेखनी बीच में न रुकेगी। उसका छंद आरंभ होकर चलता ही रहेगा और उसकी गति उसके अधिकार में रहेगी।

अचानक एक दिन उसे अपने किसी मित्र के पुस्तकालय में एक लीथो में छपी हुई पुस्तक मिली। वह उसका मनोरंजन करने में असमर्थ होने के कारण एक कोने में पड़ी थी। माधव-दास ने उस पुस्तक को उठाया। पुस्तक के शीर्ष में मोटी क़लम का लिखा छपा था—"छंद-शास्त्र।" वह प्रसन्न हो उठा, मानो उसे कोई निधि मिल गई!

मित्र से उस पुस्तक को माँगकर माधवदास रास्ते-भर उसके पत्र उलटते हुए अपने घर आया और उस पुस्तक के तत्त्व को ग्रहण करने में दत्तचित्त हुआ।

पुस्तक में उसे कविता की समता और विषमता की जाँच के लिये केवल तुला मिली, उसके गुप्त भांडार की ताली नहीं।

इसके बाद माधवदास की कविताओं में नियम प्रकट हुआ और अधिक सुंदर समझी जाने लगीं। उसने डरते-डरते एक दिन एक साधारण पत्र में अपनी प्रथम कविता प्रकाशित होने के लिये भेज दी। वह छप गई, उसे संपादकजी की भेजी हुई पत्र की एक प्रति भी मिली। वह हर्ष से उछल पड़ा, उसके आनंद का ठिकाना न रहा, जब उसे पहली बार अपना छपा हुआ नाम दिखाई दिया, उसने वह कविता अपने उस सहपाठी को दिखाई, जिसके पिता लेखक थे।

सहपाठी ने कविता की प्रशंसा की और पूछने लगा—"क्या तुमने छंद-शास्त्र पढ़ा है?"

माधव—"हाँ।"

सहपाठी—"तुम्हें पुस्तक कहाँ से मिली ?"

माधव—"एक मित्र के यहाँ रद्दी के ढेर में।"

सहपाठी—"क्या तुम मुझे उसको पढ़ने के लिये न दोगे ? तुम उसे पढ़ चुके होगे।"

माधव—"हाँ, मैं उसे पढ़ चुका हूँ, पर वह कहानी की तरह एक ही बार पढ़ने की वस्तु नहीं मालूम पड़ती। वह कोष की तरह प्रतिदिन के व्यवहार की चीज़ है। तुम उसे जब चाहो, ले जा सकते हो।"

सहपाठी उसी क्षण छंद-शास्त्र माँगकर ले गया और उसने फिर कभी उसे लौटाने का नाम नहीं लिया। इससे माधवदास की छंद-प्रगति में कुछ भी बाधा नहीं पड़ी।

माधवदास ने स्कूल की अंतिम परीक्षा में सफलता प्राप्त की। अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ उसकी कविता प्रौढ़ और गंभीर हो चली। वह बराबर लिखता गया। प्रायः सभी पत्रों में उसकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं, परंतु जब उसने "वाणी" के संपादकजी के पास अपनी एक कविता भेजी, तो उन्होंने उस पर लाल अक्षरों में "अस्वीकृत" लिखकर उसके पास लौटा दिया।

माधवदास ने फिर कठिन परिश्रम कर दूसरी कविता लिखी और संपादकजी की सेवा में भेजी। उसने पत्र में यह भी प्रकट किया कि कविता में जो दोष हों, उन्हें भी दूर करने की कृपा कीजिएगा। संपादकजी ने वह कविता भी लौटा दी और

त्रुटियों को दूर करने के लिये समय का अभाव बताया। माधवदास निराश हो उठा।

लोग समझते थे, "वाणी" में सर्व-श्रेष्ठ कवियों की कविताएँ छपती हैं। माधवदास भी बिना "वाणी" में अपनी कविता को प्रकाशित देखे संतुष्ट नहीं होता था। "वाणी" के संपादक बहुत पुराने थे। उसी धंधे में उनकी कमर झुकी थी, बालों ने रँग बदला था। वे अच्छी तरह ठोक बजाकर ही किसी नए कवि की रचना को अपने पत्र में प्रकाशित करते थे।

माधवदास ने फिर कभी "वाणी" के संपादक के पास कोई कविता नहीं भेजी। पर जब कभी वह उसमें तीसरी श्रेणी की कविताओं की भरमार देखता था, तो सिर से पैर तक जल उठता था। उसने कविता का लिखना ही छोड़ दिया।

कुछ दिन बाद अचानक उसे एक विचार सूझा। उसने अपना उपनाम "राधिका" रख लिया और उक्त नाम से उसने एक कविता "वाणी" के संपादकजी की सेवा में भेज दी। माधवदास ने इस उपनाम की चर्चा अपने मित्रों में से किसी से भी न की।

दूसरे दिन जब डाकिए ने उसे किसी पत्र के लिये पुकारा तो उसने पत्र लेकर उससे कहा—"राधिका के नाम से जो डाक आवेगी, वह मेरी होगी, उसे मुझे देना।"

डाकिए ने कुछ चकित होकर कहा—"यह तो स्त्री का नाम है।"

माधवदास—"हुआ करे। तुम जानते ही हो, मैं कवि हूँ

भाव की राजधानी में शब्दों के ऊपर शासन करता हूँ। उन्हें जहाँ चाहूँ, वहाँ नियुक्त कर सकता हूँ। यह "राधिका" शब्द मैंने अपने उपनाम की जगह रख दिया है।

डाकिया "बहुत अच्छा" कहकर दूसरी ओर बढ़ा।

अब माधवदास पत्रोत्तर के दिन गिनने लगा। उसने पत्र के संपादकजी की मेज पर पहुँचने उनका उसे देखकर उत्तर लिखने और फिर उस उत्तर का अपने पास तक आने के समय को जोड़ कर चौथे दिन उत्सुक हो डाकिए की राह देखी। वह अधीर होकर डाकखाने में ही पहुँच गया और डाकिए के बाहर निकलते ही पूछा—"क्यों जी, कोई मेरी डाक? राधिका के नाम से कोई पत्र?"

डाकिए ने सिर हिलाकर कहा "नहीं, कुछ भी नहीं।"

माधवदास उदास होकर घर चला आया और विचारने लगा—"मैंने दिन गिनने में अवश्य ही भूल की है। संपादकजी के पास एक केवल मेरा ही पत्र तो पहुँचा न होगा। पत्रों के ढेर में कदाचित् मेरी कविता उस दिन उन्होंने न पढ़ी हो। फिर वे उस पर विचार करेंगे, तब कहीं उत्तर लिखेंगे। कल संभव है, मुझे उनका उत्तर मिले।"

सातवें दिन माधवदास को उसके हाथ से "राधिका" का पता लिखकर भेजा हुआ लिफ़ाफ़ा वापस मिला। वह उसे देखकर प्रसन्न हुआ, पर उसका भार अनुभव कर घबरा गया

और समझने लगा, प्रयत्न व्यर्थ हुआ, कविता फिर अस्वीकृत होकर लौट आई।

माधवदास ने पत्र खोला। निस्संदेह उसकी कविता लौट आई थी, पर उसमें लाल अक्षरों में कहीं पर भी "अस्वीकृत" लिखा न था। कविता के साथ संपादकजी का एक पत्र भी था। उसका विशेष अंश इस प्रकार था—

"आपके हृदय में कविता का अंकुर दिखाई देता है। निरंतर अभ्यास, अपने और अन्य भाषाओं के काव्य-पाठ, और व्याकरण-शुद्ध, मुहाविरेदार भाषा के प्रयोग से अवश्य ही वह अंकुर किसी दिन विकास को प्राप्त होगा। यह कविता वापस भेजता हूँ, आशा है, आप इसके लिये क्षमा करेंगी।"

वह पत्र पढ़कर प्रसन्नता से उछल पड़ा कि लक्ष्य भ्रष्ट न होगा। उसने लौटती डाक से निम्न-लिखित पत्र भेजा—

"पूज्य संपादकजी,

प्रणाम। पत्र और वापस भेजी हुई कविता के लिये कृतार्थ हूँ।

आपके समान साहित्य के सम्राट् का आश्रय न पाने पर मुझे उस अंकुर के सूख जाने का भय है। मैं नियम-पूर्वक आपसे कविता की शिक्षा चाहती हूँ। क्या आप कृपा कर अपने बहुमूल्य समय का कुछ भाग मुझे भी देंगे?

विनीता—

राधिका।"

इस बार उसे चौथे दिन संपादकजी का उत्तर मिला, जो इस प्रकार था—

"श्रीमतीजी,

आपके कृपा-पत्र के लिये अनेक धन्यवाद !

आप निरंतर कविता लिखने का अभ्यास जारी रक्खें। भाव की प्रधानता होने पर भी शब्दों के शुद्ध रूप तोड़े-मरोड़े न जायँ, सहायक क्रियाओं और विभक्तियों का लोप न किया जाय, पिंगल के नियमों की उपेक्षा न की जाय, मात्रा और यति का भंग न हो, "दौड़ेगा" के साथ "भागेगा" का तुक न मिलाया जाय, भाव कविता का प्राण है, तो भाषा, व्याकरण और पिंगल उसके रूप, परिच्छद और आभूषण हैं। बस, इसी का विचार रखिए। कविता की शक्ति ईश्वर ने आपको दी है।

"पत्र की प्रतीक्षा" यह एक शीर्षक आपके पास भेजता हूँ। धैर्य-पूर्वक इस पर कविता लिखिए डाकिए को देखकर, प्रवासी पति के पत्र के लिये रमणी का आकुल भाव प्रकट कर भेजिए।

भवदीय

"वाणी"-संपादक।"

माधवदास ने कई बार उस पत्र को पढ़कर मन-ही-मन कहा—"इस बार अब संपादकजी पूरे जाल में फँसे।"

"राधिका" के उपनाम से पूरी कविता लिख डाली। धैर्य-प्रदर्शन के लिये उसे सात-आठ दिन तक रोक रक्खा। फिर कुछ और संशोधन कर रजिस्ट्री डाक द्वारा संपादकजी की सेवा में

भेज दी। संपादकजी ने "पत्र की प्रतीक्षा" को पसंद किया और उसे छुड़कर शीघ्र ही "वाणी" में प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की। संपादकजी ने दूसरा शीर्षक भेजा।

"राधिका" ने दूसरी कविता भी लिखकर भेजी। "पत्र की प्रतीक्षा" "वाणी" में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् यह क्रम न टूटा। "वाणी" का प्रत्येक अंक "राधिका" की कम-से-कम एक कविता से पूर्ण रहने लगा। फिर कुछ समय बाद "राधिका" ने पत्र के भीतरी मुख-पृष्ठ में प्रवेश किया और फिर उस पृष्ठ पर एकाधिपत्य राज्य किया। फिर तो "वाणी" का जो पहला पेज था, उस पर "राधिका" की कविता थी। इस प्रकार बहुत दिन बीत गए।

अचानक एक दिन "राधिका" को संपादकजी का यह पत्र मिला—

"आपकी कविताएँ लोक-प्रिय हुई हैं। उनकी संख्या भी अब पर्याप्त हो गई है। "वाणी" के अनेक पाठक उन सब कविताओं को एक साथ, एक पुस्तक के रूप में, देखना चाहते हैं। मेरी भी ऐसी इच्छा है। इसके लिये अब आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। कविताओं का संग्रह कर मैं स्वयं उनका क्रम निर्धारित करूँगा। भूमिका भी मैं ही लिखूँगा। आप अपना एक चित्र भेजने की कृपा करें। उसका भी संग्रह में प्रकाशित होना, समय की चाल के अनुसार, आवश्यक है।"

पत्र पढ़कर "राधिका" सोचने लगा—ईंटें न-जाने कब से

एकत्र हो गई हैं, बात-की-बात में यह छल का महल भी बन जाने को तैयार है। चलने भी दो, क्या क्षति है। संपादकजी चित्र चाहते हैं या इस कपट-कल्पना की समाप्ति !

उसने यह उत्तर भेजा—

"संग्रह के विचार के लिये धन्यवाद देती हूँ। पर मैं अपना चित्र नहीं भेज सकती। मैं पर्दे की प्रथा का अंधानुकरण करने पर विवश हूँ। आशा और विनती करती हूँ कि आप मुझे क्षमा करेंगे।

संग्रह में मैं "पटोत्तोलन"-शीर्षक एक और कविता भी देना चाहती हूँ। कुछ दिन बाद सेवा में भेजूँगी। विशेष कृपा।

विनीता—

राधिका।"

पत्र भेजने के बाद माधवदास विचार करता है, अब इस रहस्य को मिटाकर संपादकजी से क्षमा माँग लेनी उचित है। वह पहले पत्र द्वारा ही यह सब कुछ करने को तैयार होता है, फिर कुछ विचार कर स्वयं वहाँ जाना निश्चित करता है।

उसके बचपन का सहपाठी, वह लेखक पिता का पुत्र, संपादकजी के शहर में किसी दफ्तर में क्लर्क था। उसी के यहाँ माधवदास ने अपना डेरा डालने की ठानी और इस आशय का उसके पास एक पत्र भेज दिया। दो-चार दिन बाद आवश्यक सामान लेकर उसने स्वयं भी प्रस्थान कर दिया।

संपादकजी "राधिका" का पत्र पाकर चकित हुए और

कहने लगे—"यह स्त्री कैसी अद्भुत है। ऐसे मनोहर काव्य को यह पर्दे में छिपा देना पसंद करती है। वह अपना चित्र नहीं भेजना चाहती, अच्छी बात है। मुझे इसमें एक विचार मिलता है। मैं कई दिन से उस काव्य-संग्रह का नाम खोज रहा हूँ, मैं उसका नाम 'अवगुंठन' रक्खूँगा।"

माधवदास अपनी यात्रा के तीसरे दिन, नौ बजे के लगभग, अपने क्लर्क मित्र के घर पर पहुँचा। वे उसी समय खा-पी कपड़े पहनकर ऑफ़िस को प्रस्थान कर रहे थे। माधवदास को पहचानकर खिल उठे, मित्र को बैठक में ले गए। पुत्र को आवाज़ देकर बुलाया और उसके सिर पर कवि के आतिथ्य का भार सौंपकर बोले—"क्षमा करना मित्र! मुझे विदा दो, सुपरिंटेंडेंट साहब बड़े बेढब आदमी हैं, ऑफ़िस का वक्त हो गया। तुम खा-पीकर आराम करो, संध्या-समय आकर फिर सब बातें होंगी।"

मित्र ऑफ़िस को बिदा हुए, माधवदास ने स्नान और भोजन किया। इसके बाद उसने "पटोत्तोलन"-शीर्षक कविता पूर्ण की और फिर शहर की सैर और संपादकजी के ऑफ़िस और घर का पता लगाने को चला गया।

संध्या को मित्र के दफ़्तर से लौट आने तक वह भी आ गया।

मित्र ने कहा—"स्कूल छोड़ने के बाद आज ही भेंट हुई है, तुम तो बिलकुल परिवर्तित हो गए माधव!"

माधव—"और तुम क्या अपने को ज्यों-का-त्यों समझते हो ?"

मित्र—"तुमने आकर जरा देर भी आराम नहीं किया। कहाँ-कहाँ हो आए, क्या खरीद लाए ?"

माधव ने काग़ज़ में लिपटी हुई एक रेशम की साड़ी मित्र के हाथ में रक्खी और कहा—"कुछ नहीं, एक रेशम की साड़ी खरीद लाया हूँ।"

मित्र ने मुस्किराते हुए कहा—"किसके लिये लाए हो ?"

माधवदास—"अपने लिये। घर से लाना भूल गया। अभी संध्या-समय, इसे पहनकर एक जगह जाना है। तुम्हें भी साथ चलना होगा।"

मित्र—"अद्भुत बात कह रहे हो! क्या किसी नाटक-कंपनी के इश्तिहार बाँटने चलोगे ?"

नौकर ने दोनो मित्रों के लिये मेज़ पर चाय रक्खी।

माधवदास ने चाय पीते हुए कहा—"वाणी में "राधिका" की कविताएँ तुमने पढ़ी है न ?"

मित्र—"मुझे उसकी कुछ कंठस्थ भी हैं। अच्छा लिखती है। तुम उसे जानते हो क्या ?"

माधव—"हाँ, ख़ूब अच्छी तरह।"

मित्र—"कौन है वह ?"

माधवदास—"मैं ही वह हूँ, मैं ही राधिका हूँ।"

मित्र—"वाह! तुम हँसी तो नहीं कर रहे हो ?"

माधवदास—"तुम्हारे साथ हँसी करने की आवश्यकता ही क्या है। संध्या-समय इस साड़ी को पहनकर संपादकजी से मिलने जाऊँगा।"

मित्र—"इन मोछों का क्या करोगे?"

माधवदास—"इनको घूँघट में छिपाकर रक्खूँगा।"

मित्र—"तुमने अजीब तमाशा किया। सात-आठ साल से तुम इस रहस्य को इस प्रकार छिपाते हुए चले आए? मैं आश्चर्य करता था कि माधव की कविता कहाँ लीन हो गई, क्यों सुप्त हो गई? पर तुम यह छद्म वेश लिए बैठे थे। संपादकजी के पास कितनी देर में चलोगे?"

माधवदास—"जब जरा अँधेरा हो जाय। मैं उनके ऑफिस को देख आया हूँ। सड़क के पास ही नीचे की मंजिल में है। प्रेस का एक कर्मचारी कहता था, आज भी वे रात आठ-नौ बजे तक वहाँ काम करते रहेंगे। इसके बाद वे घर पर मिलेंगे। उनके ऑफिस में ही मिलना ठीक होगा।"

मित्र—"उनसे क्या कोई विशेष मतलब है?"

माधवदास—"राधिका-रहस्य को प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।"

दो घंटे तक दोनो मित्र नाना प्रकार की बातों में निमग्न रहे। कुछ अँधेरा होने लगा था, मित्र ने बिजली का बटन दबाकर प्रकाश कर दिया। माधवदास ने साड़ी लेकर उठते हुए कहा—

"समय हो गया। अब मुझे "राधिका" बनकर तैयार हो जाना चाहिए। मित्र, तुम चुपचाप एक ताँगा ले आओ।"

मित्र स्वयं ताँगा लेने चले गए। माधवदास ने अपने धोती-कुरते के बाहर कौशल-पूर्वक वह साड़ी पहन घूँघट काढ़ लिया। मित्र ताँगा लेकर आ पहुँचे और दोनों उसमें सवार होकर संपादकजी के ऑफिस की ओर चले। ऑफिस के बाहर ताँगा रोक दिया गया। माधवदास एक विज़िटिंग कार्ड में घर से ही "राधिका" लिखकर ले गया। उस कार्ड को मित्र ने संपादकजी के ऑफिस में जाकर उनके सामने रक्खा। संपादकजी कुछ लिख रहे थे। कार्ड को पढ़कर क़लम दूर रखकर उठे और कहने लगे—"धन्य भाग्य! उनका स्वागत है, कहाँ हैं वे?"

मित्र—"आप बैठें, मैं उन्हें अभी भेजता हूँ।"

"राधिका" ने घूँघट खींचकर संपादकजी के कमरे में प्रवेश किया। संपादकजी ने उनको बैठने के लिये कुर्सी देकर अपने सौभाग्य की सराहना की। "राधिका" ने मूक रहकर दावात-क़लम और काग़ज़ माँगने का संकेत किया। संपादकजी ने सब कुछ पेश किया।

"राधिका" ने काग़ज़ पर लिखा—"मैं आपसे न बोलने के लिये भी बाध्य हूँ। इसलिये मैं अपने मनोभाव इस काग़ज़ पर लिखकर प्रकट करूँगी।"

संपादकजी—"आपकी जैसी भी इच्छा हो। पर क्या कवि को घूँघट के बंधन में रहना उचित है? पर्दे के बाहर जो

प्रकृति और समाज का जीवन है, बिना उसका अनुशीलन किए आपका काव्य किस तरह परिपूर्ण होगा ? आश्चर्य, है, आपके समान उदार विचार रखनेवाला मन पर्दे को क्यों इतना जरूरी समझता है ?"

"राधिका" ने फिर लिखा—"मैं इस पर्दे को दूर करने के विचार से ही आपके पास आई हूँ।"

संपादकजी ने उत्तर दिया—"मुझे भी बड़ी प्रसन्नता होती, यदि मैं आपके इसी काव्य-संग्रह को आपके चित्र से विभूषित कर सकता। पुस्तक दो-चार दिन में प्रेस में दे दी जायगी। पुस्तक का संग्रह संपूर्ण हो गया है, केवल भूमिका लिखनी शेष है। आपने "पटोत्तोलन"-शीर्षक कविता भेजने के लिये लिखा था ?"

"राधिका" ने फिर काग़ज़ पर क़लम दौड़ाई—"मैं उसे साथ लेकर आई हूँ। यही कविता-संग्रह की पहली कविता होगी। मुझे अभी यहाँ आते-आते मार्ग में एक विचार सूझा है। उसके अनुसार मैं इसमें कुछ परिवर्तन करना चाहती हूँ।"

संपादकजी ने "राधिका" के काव्य-संग्रह की फ़ाइल निकाल-कर उसके समीप रखकर कहा—"बड़े हर्ष के साथ आप यहीं बैठकर उसमें संशोधन करें। यह आपका संपूर्ण काव्य-संग्रह है। इसके क्रम को भी पसंद करें। मैं दोपहर से बैठा-बैठा पत्र के लिये टिप्पणियाँ लिख रहा था। आपके लिखने के लिये

एकांत की रचना कर कुछ देर खुली हवा में टहलूँगा। आपके भोजन और निवास की व्यवस्था ?"

"राधिका" ने साड़ी से प्रायः ढके हुए हाथ जोड़े और घूँघट-युक्त सिर हिलाकर संपादकजी की कृपा और भोजनादि की अनावश्यकता प्रकट की।

संपादकजी अंदर के दरवाजे को बंद कर चले गए। माधवदास ने उसी क्षण साड़ी उतारकर एक अखबार में पैक कर दी और बाहर ताँगे में प्रतीक्षा करते हुए मित्र को देकर कहने लगा—"क्षमा करना मित्र! जरा-सी देर और है।"

इसके बाद वह अंदर जाकर अपने काव्य-संग्रह की फाइल देखने लगा और फिर पटोत्तोलन की काट-छाँट दूर कर उसकी स्वच्छ प्रतिलिपि तैयार करने में लग गया।

संपादकजी ने कुछ देर बाद धीरे-धीरे दरवाजा खोलकर जब उस कमरे में प्रवेश किया, तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने माधवदास के निकट आकर कहा—"तुम कौन हो, वे कहाँ गईं ?"

माधवदास—"वे कहीं नहीं गईं, मैं ही वह हूँ।"

संपादकजी—"तुम्हारी बातों का अर्थ नहीं समझ पड़ता। क्या तुम मुझसे हँसी करना चाहते हो ?"

माधवदास—"नहीं, ऐसी उद्दंडता मुझसे कदापि न होगी। मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया है। आप ही ने तो मुझसे अभी घूँघट दूर कर देने को कहा था।"

संपादकजी मूर्तिवत् खड़े रह गए। माधवदास ने "पटोत्तोलन" की अंतिम पंक्ति नक़ल कर संपादकजी के हाथ में रख दी। उन्होंने हस्त-लिपि पहचानी। ठीक वही "राधिका" के अक्षर थे। संपादकजी का माथा घूमने लगा। वे मानो किसी एक लोक से उठाकर दूसरे लोक में रख दिए गए थे। उन्होंने क्रोध और निराशा-भरी वाणी में कहा—"तुम्हें इतने दिन तक साहित्य-संसार को धोखे में रख देने की हिम्मत कैसे हुई?"

माधवदास ने विनीत होकर कहा—"वह एक बचपन की भूल थी। उसे क्षमा कीजिए और मुझे अपना वही सेवक समझिए।"

संपादकजी—"सरासर छल और झूठ! मैंने तुम्हारी कविताओं का संग्रह तो कर दिया है, पर अब मैं इसकी भूमिका कदापि न लिखूँगा। वह तुम्हें ही लिखनी पड़ेगी।"

माधवदास—"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, मैं अभी लिखने को तैयार हूँ।"

संपादकजी—"अच्छी बात है।"

माधवदास ने भूमिका के दो शब्द लिखे—

"अनेक पाठक "राधिका" को स्त्री-कवि समझते हैं। वह मेरा उपनाम है। मेरी एन इवांस ने महिला होकर पुरुष का उपनाम—जार्ज इलियट ग्रहण किया था। उसी प्रकार मुझे भी कई कारणों से बाध्य होकर यह उपनाम स्वीकार करना पड़ा। यह भ्रम दूर हो। मेरा वास्तविक नाम है—

माधवदास।"

चलते समय माधवदास ने अपना चित्र संपादकजी को देकर कहा—"यह मेरा चित्र है, जिसे आप संग्रह में देना चाहते थे।"

संपादकजी ने रूखेपन से कहा—"इसी फ़ाइल में रख दो।"

उनकी आज्ञा का पालन कर माधवदास ने उन्हें प्रणाम किया और मित्र से तमाम बातें कहता हुआ लौट आया

गीत की प्रतियोगिता

सनातन हिम के समीप, नौ हज़ार फीट ऊँची पर्वत-माला में, खेमा का प्रत्येक वसंत, ग्रीष्म और पावस बीतता था। शेष वर्ष के लिये वह अपने पिता और चलायमान घर के साथ नीची और गरम नदियों की घाटियों में उतर जाती थी।

बचपन से लेकर अब तक एकांत वन ही उसकी विहार-भूमि रहे हैं। वह वाष्प और बिजली के चमत्कारों के विषय में सुनती है; पर उसने दियासलाई-लालटेन, सुई-बटन के सिवा और कुछ भी नहीं देखा। नाटक और बायस्कोप की वह कदाचित् ही कल्पना कर सके।

जीवन के आरंभ-काल में वह गिरि-काननों में आँखों से बकरियाँ चराती, हाथों से तकली घुमाती और सुमधुर स्वर से नवीन गीतों की रचना करती थी।

अब वह वन में बकरियाँ चराने नहीं जाती। ऊन उसका अभिन्न सखा है। वय की वृद्धि के साथ उसने ऊन की अधिक उपयोगी और लाभप्रद प्रगति अपने हाथ में ले ली है। वह ऊनी कंबल बुनती है। इससे जो कुछ भी धन वह प्राप्त करती है, उससे अपने लिये चाँदी के आभूषण बनवाती है। उसे चाँदी की मालाएँ पहनने की बड़ी रुचि है। चाँदी के सिक्कों की एक माला गुल्फ तक, एक घुटने तक, और एक नाभि तक

वह पहन चुकी है। वह इनके बीच-बीच में एक-एक रौप्य चंपक कलियों की माला पहनना चाहती है। इस वर्ष उसने दस कंबल बुने हैं। उसने विगत वर्ष का कुछ रुपया पिता के पास जमा किया है। एक माला वह इस वर्ष बना लेगी, ऐसा उसका पूरा विश्वास है।

शरद् के आरंभ में खेमा के पिता अपना डेरा-डंडा, ऊन-कंबल, भोजन-बरतन पहाड़ी घोड़ों पर लादकर, बकरियों की गिनती कर, तकली घुमाते हुए संगम के मेले को चल देते हैं।

दूसरा दिन उनका प्रस्थान-दिन है। प्रभात होने से बहुत पहले, जब कोई भी तारिका मुरझाना आरंभ नहीं करती, उनकी विदा का समय है। दोपहर में किसी जलाशय या चारागाह के निकट वे अपनी यात्रा में विराम देते हैं। गृह-निर्माण होता है, कंबल बुनने की मशीन भूमि पर स्थिर कर दी जाती है। कोई जल-ईंधन जुटाता है, कोई भोजन बनाने में नियुक्त होता है, कोई ऊन के संस्कारों में जुट जाता है। पशु भार-विमुक्त कर जंगल में चरने के लिये छोड़ दिए जाते हैं।

आज दिन-भर खेमा और उसके माता-पिता को कठिन परिश्रम करते बीता है। मुरली को तो पानी पीने का भी अव-काश नहीं मिला, उसने कमर भी सीधी नहीं की। उसने आज ऊन के थैलों में नाना प्रकार की चीजें भरकर उनके मुख सीकर बंद किए हैं।

मुरली खेमा के पिता का सेवक है। वह कुछ दूर का रहने-

वाला है। उसकी भाषा, रहन-सहन और धर्म खेमा से भिन्न था। पाँच साल हुए वह अपनी जन्मभूमि छोड़कर इनके यहाँ चला आया था। महामारी के कोप में वह अपने कुटुंब के सब लोगों को खो बैठा। उसके पिता बाँस की जाति के एक प्रकार के वृक्षों की चटाइयाँ बनाकर अपने कुटुंब का पालन करते थे। मुरली वंशी बनाकर बेचा करता था। वह वंशी बजाने में भी प्रवीण था। मृत्यु के भयंकर रूप ने उसके मन में बड़ा भय उत्पन्न कर दिया। पिता की फूस की झोपड़ी, कुछ काठ और मिट्टी के बरतन, एक-दो कपड़े, जो कुछ भी उसकी संपत्ति थी, वह सब कुछ वैसी ही छोड़कर एक दिन उसने अपनी जन्मभूमि का त्याग कर दिया, उसकी एक वंशी थी, मुरली उसका मोह न छोड़ सका। वह दिन-भर पहाड़ी मार्ग में, जिधर पथ दिखाई देता था, उधर ही विक्षिप्त की भाँति, चला जाता था। जब उसे भूख लगती, तब वह किसी ग्राम के समीप वंशी बजाता था। दीन पहाड़ियों के रूखे-सूखे दान ने उसे कभी भूखा न मरने दिया।

इसी प्रकार भटकते-भटकते एक दिन वह खेमा के पिता के पास आया। वह उन दिनों अपने हिम-निवास में थे। उसने आकर कुछ जल पीने को माँगा। खेमा के पिता ने उसे दो जौ की रोटियाँ और एक लोटे में जल दिया। उसके वस्त्र मैले और फटे थे, नंगे पैरों में ठोकरें लगी थीं, काँटे चुभे थे। उसके होंठ सूख गए थे, आँखों में गड्ढे पड़े थे, भौंहों में धूल जमी

थी। खेमा के पिता उसे असहाय परदेशी देखकर द्रवित हो उठे।

रोटी खा, पानी पीकर उसने साँस ली, और हाथ-मुँह धोकर खेमा के पिता के लिये परमेश्वर से आशीर्वाद-कामना की। संध्या का सुहाना समय था। सूर्यास्त हो चुका था, पर सर्वोच्च होने के कारण अभी संमुखवर्ती हिम-श्रेणी में दिन-पति की सुवर्ण-किरणें झिलमिला रही थीं। दूर के पर्वतों में नीले और बैंगनी रंग की छाया पड़ रही थी। उसने अपनी जेब से वंशी निकाली, और आँगन के पास एक दीवाल पर बैठकर उसमें प्राण भरने लगा। पहले ही स्वर को सुनकर खेमा ने अपना कंबल बुनना छोड़ दिया, और वहाँ पर दौड़ी हुई आ गई। जब उसमें से गीत निकलने लगा, तो गाँव-भर के सभी बूढ़े और बच्चों ने जमा होकर उसे घेर लिया। मुरली के सुमधुर-वंशी रव से उस कर्म-संतोषशील, नृत्य-प्रिय जाति के पग डगमगा गए। उसने कई गीत और बजाकर फिर वंशी जेब में रख ली।

उस दिन से मुरली खेमा के ही यहाँ रह गया, और धीरे-धीरे इस पाँच साल की अवधि के बाद वह उन्हीं लोगों में मिल गया है। अब वह उन्हीं की भाषा बोलता, उन्हीं का दिया हुआ खाना खाता और उन्हीं की शैली के कपड़े पहनता है।

वह चार बजे सुबह उठ जाता है। उठकर सबसे पहले आग जलाता है, जल का संग्रह करता है, और अपने स्वामी

के लिये तंबाकू भरता है। सूर्योदय से भी पहले वह कुछ मांस-रोटी और चाय खा-पीकर घास या लकड़ी की खोज में वन को चला जाता है।

दोपहर को वन से लौटकर वह भोजन करता और ऊन के काम हाथ में लेता है। वह जितना अच्छा ऊन कातता है, उतने ही सुंदर कंबल भी बुनता है।

गाँव के बीचो-बीच, एक ऊँची भूमि के ऊपर, एक गृह है। उसका नाम रंग-कुटीर है। रंग-कुटीर का दूसरा नाम अवि-वाहितों का गृह भी हो सकता है। वह स्वयंवर-समिति भी है। कोई भी विवाहित उसमें प्रवेश नहीं कर सकता। कौमार्य ही उस रंग-कुटीर का पासपोर्ट है। रात को खा-पीकर ग्राम-भर के अविवाहित वहाँ एकत्र होते और नृत्य-गीत में निरत होकर अपने दिन-भर के श्रम को मिटाते हैं। रंग-कुटीर में मुरली प्रमुख व्यक्ति हो जाता है।

किसने और कब इस रंग-कुटीर की बुनियाद रक्खी, इसका ठीक-ठीक पता नहीं। हिम के शीत और पत्थर की कठोरता के ऊपर पली हुई सभ्यता-हीन एक पहाड़ी जाति, जिसकी न कोई बड़ी आबादी, न कोई इतिहास, अनक्षर और अप्र-काशित! इनके मन में संगीत-प्रेम कैसे उत्पन्न हो गया? इसके ऊपर नृत्य का उल्लास इन तकली घुमानेवालों को कहाँ से मिल गया?

खेमा के पिता ने वन से लौटी हुई बकरियों की गिनती कर कहा—"आज एक बकरी नहीं आई क्या ?"

खेमा पास खड़ी हुई तकली घुमा रही थी। तकली भूमि का स्पर्श करने लगी थी। उसने डोरे को लपेटते हुए उसी क्षण उत्तर दिया—"हाँ पिता, भाई फिर उसी की खोज में गया है। वही बकरी न, जिसकी एक सींग भूमि की ओर झुकी है, जिसकी गर्दन पर सफ़ेद बालों का घेरा है, जिसे आपने गत वर्ष जौ और गेहूँ से बदला था ?"

खेमा के पिता ने बकरियों के झुंड में फिर दृष्टि दौड़ाकर कहा—"हाँ, वही नहीं दिखाई देती।"

खेमा कहने लगी—"हाँ, वही होगी। सूर्यास्त तक उसका पेट नहीं भरता। वह झुंड को छोड़ बहुधा हरियाली की खोज में इधर-उधर चली जाती है।"

खेमा के पिता ने कहा—"उसकी खोज के लिये किसी और को भी जाना चाहिए। मुरली तो आज कहीं भी नहीं जा सकता, उसे आज बहुत काम हैं।"

खेमा—"क्या रंग-कुटीर में भी नहीं जायगा ?"

खेमा के पिता ने मुरली की ओर देखा, और "मुरली !" संबोधित कर उसी से उत्तर माँगा।

मुरली ने शीघ्रता का भाव दिखाते हुए कहा—"यह अंतिम थैला है। इसे क्षण-भर में सीकर मैं उस बकरी को अभी खोजे लाता हूँ। नदी के उतार में उस तरफ़ अच्छी घास है, वह ज़रूर

नहीं होगी। खेमा, तुम मा को रोटी बनाने में मदद दो। बर-तन भी आज ही सब बाँध देने होंगे।"

खेमा के पिता ने कहा—"उतावली न करो। सुई चुभ जायगी। तुम अपना काम न छोड़ोगे। इसके बाद तुम्हें यह तंबू उतारकर बाँधना है। खेमा! जाओ बेटी, तुम्हीं हो आओ।"

खेमा तकली घुमाती हुई नदी की घाटी की ओर चली गई। तकली का घुमाना खेमा का द्वितीय स्वभाव है। वह उसमें इतनी अभ्यस्त है कि चलते-फिरते भी उसे घुमा सकती है। जब उसके हाथ ताने-बाने में नहीं उलझे रहते, भोजन में नियुक्त नहीं होते या नृत्य में अगृहीत रहते हैं, तो वह निश्चय तकली घुमाती रहती है।

अब वह नदी-तट पर आ पहुँची। यद्यपि नदी का उद्गम समीप था, फिर भी वर्षा के बाद की परिपूर्णता से उसमें कम जल न था। पहाड़ी नदी का वेग!—इसका पूछना ही क्या! हाथी के बराबर ऊँची शिलाओं को भी वह बहा देता है। नदी के बहाव की ऊँचाई देखकर जल-शक्ति-संग्राहकों के मुँह में ही पानी भर आवे।

कितना गुरु-गंभीर उस नदी का स्वर था। प्रायः चारों ओर से पहाड़ों से घिरे रहने के कारण नदी का गर्जन प्रति-ध्वनित होकर वहाँ पर और भी मधुर हो गया था। ऊपर कहीं-कहीं बादलों से आधिकृत नील आकाश वन की हरियाली

को प्रभावित करता था। नदी का रव गीत की स्मृति देता था, तकली की परिक्रमा आवेशमय करती थी।

खेमा ने गीत आरंभ कर नदी के मंद्र स्वर-जाल में अपने तार-सप्तक से तुलना उत्पन्न कर दी। उसका गीत नदी के नाद का आधार पाकर मधुरतम हो उठा। प्रकृति और संगीत में विमुग्ध-प्राय खेमा कुछ देर तक वहीं खड़ी रही। उसके गीत उसके परिमित संसार की सीमा को पार नहीं करते थे। उसने दूसरा गीत आरंभ किया—

"तू ऊँचे पर्वत के शीत में कहाँ जावेगा? सँकरे मार्ग में सँभलकर पैर रख। ऊपर का पहाड़ खिसक जाता है, और नीचे की नदी में वेग अधिक है। तू ऊँचे पर्वत के शीत में कहाँ जावेगा?"

उसने अपने भाई को पुकारा, पर कुछ भी उत्तर नहीं मिला। वह अवश्य कहीं दूर होगा, नहीं तो अब तक जरूर खेमा के गीत का उत्तर देता। खेमा के पशु भी उसके गीत का प्रत्युत्तर देते हैं। खेमा ने फिर उपर्युक्त पद दुहराया। अचानक दूसरी ओर से उत्तर मिला—

"मैं पर्वतों की गोद में पला हूँ, मेरा पैर फिसल नहीं सकता। मैं नदी के वेग को बाँधकर उससे अपनी चक्की चलाऊँगा। मैंने नरम ऊन को कातकर उससे अपना कंबल बुना है। मेरे मन में देवता के दर्शन का लोभ है। मैं ऊँचे पर्वत के शीत में चला ही जाऊँगा, मेरा पैर फिसल नहीं सकता।"

खेमा खिलखिलाकर हँस पड़ी, और गीत की दिशा की ओर जाती हुई बोली—"जैत ! तुम हो ? ई ऽऽ !" उसने "ई ऽऽ" का स्वर में भी विस्तार किया, मानो वसंत का सबसे मधुर पक्षी कूक उठा हो।

जैत ने कहा—"हाँ, मैं ही हूँ। आज असमय वन में किस-लिये ?"

खेमा ने अभी जैत को नहीं देखा, दोनो के बीच में बड़े-बड़े वृक्ष और झाड़ियाँ थीं। खेमा ने जोर से कहा—"बकरी की खोज में आई हूँ, तुमने मेरे भाई को भी देखा है ?"

खेमा संक्षिप्त पथ से जाने के लिये लंबी-लंबी घास और झाड़ियों में प्रविष्ट हुई। उसने सूत्र को तोड़कर तकली में लपेट लिया, और तकली कान के पास सीमंत-प्रदेश से लटकती हुई चाँदी की जंजीर के पीछे ग्रथित केश-गुच्छ में खोंस ली।

जैत—"हाँ, तुम्हारा भाई बकरी को लेकर इस पथ से घर गया है। तुम दूसरी ओर से आई हो, वह अब तक पहुँच भी गया होगा।"

इस समय खेमा जैत के पास आ पहुँची। उसने देखा, जैत एक लकड़ी के गट्ठर को बाँधे हुए उसी की प्रतीक्षा कर रहा है।

खेमा ने उसे देखकर साश्चर्य कहा—"कल तुम भी तो चलोगे जैत ! फिर ये लकड़ियाँ क्या आगामी वर्ष के लिये अभी से जमा कर जाओगे ?"

जैत—"नहीं, ऐसी बात नहीं है खेमा ! हम लोग कल के

लिये सब सामान बाँध चुके हैं। भोजन और रात को जलाने के लिये लकड़ी का एक भी तिनका न था। मैं खाली बैठा हुआ था, लकड़ियों के लिये चला आया। मुझे यहाँ आए बहुत देर नहीं हुई है। सौभाग्य-वश मुझे यहीं पर पर्याप्त सूखी लकड़ियाँ मिल गईं, पर इनको रखकर बाँधने के लिये मुझे कोई उपयुक्त ऊँचा स्थान ही नहीं मिलता था। मैं इसी असमंजस में पड़ा था कि मुझे तुम्हारा गीत सुनाई दिया। फिर क्या था, मैंने यहीं पर इस बोझ को बाँध लिया है। दया कर इसे सिर पर रख लेने में मुझे मदद दो। कदाचित् तुम इसीलिये यहाँ आई हो।"

खेमा—"अच्छी बात है जैत! किसी प्रकार मेरा वन में आना सार्थक हो।"

उस शीतल जल-वायु में खेमा खूब हृष्ट-पुष्ट थी। उसके स्वास्थ्य ने उसके सौंदर्य को और भी सुंदर बनाया था। खेमा ने अपने बलिष्ठ हाथों की चुटकियों से वह लकड़ी का भारी गट्ठर उठाकर जैत के सिर पर रख दिया।

जैत खेमा के पड़ोसी का पुत्र है। जैत के पिता पहले दूसरी नदी की घाटी में रहते थे। यहाँ भी उनका एक पक्का मकान है। वह कई वर्षों से अब यहीं रहते हैं। वह भी खेमा के पिता के समान दो-तीन भिन्न-भिन्न राज्यों में व्यापार करते और उन राजाओं को कर देते हैं। दोनो आपस में बड़ी मैत्री रखते हैं।

जैत अभी अविवाहित है। उसके लिये रंग-कुटीर के द्वार ऐसे ही विमुक्त हैं, जैसे खेमा के लिये।

जैत ने लकड़ियों का गट्ठर सँभालकर कहा—"अच्छा चलो किसी सुमधुर गीत के साथ मुझे पथ दिखाते हुए आगे-आगे चलो। गीत के सम्मोहन के वश में होकर मेरे सिर का भार हल्का पड़ जायगा। तुम्हारे आगमन की ख़ुशी में भूलकर ही मुझसे इस गट्ठर में कई लकड़ियाँ अधिक रक्खी गई हैं।"

खेमा—"ये सुवर्ण की लकड़ियाँ नहीं हैं जैत! निकालकर फेंक दो। यदि इनका लालच नहीं छोड़ सकते, तो कम कर दो, मैं ले चलूँगी।"

जैत—"नहीं खेमा! मकान बहुत दूर नहीं है। मैं किसी प्रकार ले चलूँगा। अब इस बँधे गट्ठर को खोलने को जी नहीं चाहता।"

खेमा ने फिर गीत आरंभ किया—

"तू ऊँचे पर्वत के हिम में कहाँ जावेगा? सफ़ेद मार्ग में सँभलकर पैर रख, हिम के नीचे धोखा है, और तेरे सिर के ऊपर बोझ भारी है। तू ऊँचे पर्वत के हिम में कहाँ जावेगा?"

जैत ने फिर उत्तर दिया—

"हिम के ऊपर ही मेरी आँखें खुली हैं। मेरा पैर उसमें धँस नहीं सकता। हिम के धोखे की ओर मेरा देवता मुझे न ले जावेगा, उसकी भेंट का भार मेरे सिर पर है। मैं ऊँचे पर्वत

के हिम में चला ही जाऊँगा, मेरा पैर उसमें धंस नहीं सकता।"

इसके बाद खेमा हँसकर बोली—"इसके आगे भी दो बोल और हैं। मैं भूल गई, यह गीत बड़ा पुराना है, तुम्हें याद है क्या?" अनुकूल पथ पाने पर उसने फिर कातना भी आरंभ कर दिया था।

जैत ने उत्तर दिया—"नहीं, रंग-कुटीर में तुमने कई बार इस गीत को गाया है। इसी से मुझे भी उतना ही याद है, जितना तुम भूली नहीं हो।"

खेमा कुछ उदास स्वर में कहने लगी—"जैत! गीत भी मनुष्य की तरह प्राचीन पड़कर विनष्ट हो जाता है। मा कहती है कि स्वर्गी माता के समय में जो गीत प्रचलित थे, उसका अधिकांश नवीन संतान भूल गई है। शेष बचे हुए को आगामी संतान भी याद न रख सकेगी।"

जैत—"आज रंग-कुटीर में इस वर्ष का अंतिम नृत्य होगा।"

खेमा—"इसी से निश्चय कुछ विशेषता होगी। कल हमारे प्रस्थान का दिन है। उसके बाद छः महीने तक हमें रंग-कुटीर के दर्शन भी न होंगे।"

जैत—"मुझे उन सघन वृक्षों के नीचे, जहाँ उनके पत्ते चाँदनी को छानकर भूमि पर बिखरा देते हैं, नाचने में बड़ा सुख अनुभव होता है।"

खेमा ने पीछे फिरकर हँसते हुए कहा—"अगर वह रात शरद् की पूर्णिमा हो, तो ?"

जैत—"तो कहना ही क्या !"

खेमा—"नदी का तट भी हो, और हज़ारों मनुष्यों की भीड़ भी हो, तो ?"

जैत—"मैं समझ गया। तुमने संगम के मेले का आभास दिया। महीना-भर और शेष है। मेले के पाँच-छः दिन पहले ही हम लोग वहाँ पहुँच जायँगे।"

खेमा—"शरद् की पूर्णिमा साल में केवल एक ही बार आती है। नृत्य की वह मूर्च्छनामयी रात कितनी जल्दी बीत जाती है। तुमने कभी इसका अनुभव किया है जैत ! सुख के वर्ष दिनों के समान और दुख की घड़ी युग की भाँति प्रतीत होती है। पूर्णिमा के बाद भी तीन दिन तक मेला रहता है। तीनो रात नृत्य-गीत भी होते ही हैं, पर सब निरंतर उतरती कला में। ऊपर आकाश में चंद्रमा के घटने के साथ-साथ मेले के मनुष्य भी घट जाते हैं। दर्शकों की अधिकता से भी तो हमारे नृत्य-चक्र अधिक विमोहक हो जाते हैं।"

वे दोनो अब ग्राम के निकट आ गए थे। कुछ दूर जाने के बाद पहले खेमा का घर आया। जैत ने उसे बिदा देते हुए कहा—"आज नियत समय से कुछ पहले ही रंग-कुटीर के द्वार खोलकर नृत्यारंभ का संकेत देना होगा। मुरली से जाते ही यह सब कुछ कह देना, भूलना नहीं।"

"नहीं, क्यों भूलूँगी।" कहकर खेमा अपने घर चली गई। उसका भाई आकर बैठा हुआ रोटी खा रहा था।

उसके पिता आँगन में ऊन की रस्सी बट रहे थे। खेमा को देखकर बोले—"तुम्हें वृथा ही इतना चलना पड़ा।"

खेमा ने भाई की ओर दृष्टि कर कहा—"यह न-जाने किस रास्ते से छिपकर चला आया।"

भाई उसके ठगे जाने पर चुपचाप हँसने लगा। आँगन के एक ओर रसोईघर था। वहाँ उसकी माता बैठी रोटियाँ सेंक रही थी। उसने खेमा से कहा—"रोटी खा ले बेटी!"

खेमा ने "हाँ" कहा, पर इधर-उधर किसी को खोजने लगी।

उसके पिता बोले—"क्या खोजती हो?"

खेमा—"क्या आप भोजन कर चुके? क्या आपने उसे कहीं भेजा है?"

खेमा के पिता—"हाँ, नदी के पार मुखिया के गाँव में भेजा है। मुखिया हाल ही में मेरे पास आया था। वह अपने काले घोड़े को इस साल संगम के मेले में बेच देना चाहता है। बेटे की बीमारी के कारण वह अभी कुछ दिन और यहीं रहेगा, इस कारण वह घोड़े के विक्रय का भार मुझे सौंप देना चाहता था। अपने काम के आधिक्य में मैं यह सब कुछ भूल गया था। इस समय एकाएक जब मुझे उसकी सुधि आई, तो मैंने मुरली से कहा। यह सुनकर वह मेरा जवाब लेकर मुखिया के

गाँव को चल दिया है। वह शीघ्र ही लौट आने को कहता था, गाँव भी बहुत दूर नहीं है।"

खेमा के मुख पर व्यथा का भाव प्रकट हुआ।

उसके पिता का उधर ध्यान न था। मुरली की जगह उन्हें ही तंबू बाँधना पड़ा है। रस्सी जीर्ण होकर टूट गई थी, ग्रंथि देने से छोटी पड़ जायगी। फिर उसके टूट जाने की आशंका से उन्होंने नई रस्सी बट लेना उत्तम समझा।

खेमा चुपचाप वहीं पर खड़ी थी। उसके पिता कहने लगे—"तुम मूर्ति के समान क्यों खड़ी रह गई। मैं खा-पी चुका हूँ। तुम भी खा लो, मुरली के हिस्से का रख दिया जायगा।"

माता और बेटी ने भोजन किया। मुरली के हिस्से का रखकर उन्होंने बरतन साफ़ किए, और आग के पास सूख जाने के लिये उलटे कर रख दिए।

संध्या बीत चुकी थी, और अँधेरा भी होने लगा था; पर मुरली अभी तक नहीं लौटा। खेमा आकुल होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगी। जैत कहता था, आज संध्या के बाद ही रंग-कुटीर का उत्सव आरंभ हो जाना चाहिए।

मुरली रंग-कुटीर का प्राण है। नित्य रात्रि के आरंभ में वह उसके द्वार खोलकर उसमें दीपक जलाता है। फिर उसकी छत पर चढ़कर कुछ देर वंशी बजाता है। उसके वंशी-रव को सुनकर सब नृत्यारंभ का समय सन्निकट समझते हैं, और गाँव-भर के तमाम अविवाहित रंग-कुटीर में जमा हो जाते हैं। सबके एकत्र

होजानेपर मुरली छत से उतर आता और कुटीर के भीतर प्रवेश करता है। वहाँ बीचों-बीच एक छोटे-से वृत्ताकार मंच पर खड़ा होकर फिर वंशी बजाना आरंभ करता है। एक बालक उसके एक ओर बैठकर डमरू और दूसरा फूल की कटोरी बजाता है। इस ऑरचेस्ट्रा की त्रयी को केंद्र बनाकर सब इसके चारों ओर नृत्य-चक्र की रचना करते हैं। कभी-कभी एक चक्र के भीतर दूसरा चक्र बना लिया जाता है, जिसमें अक्सर कुमारियाँ ही रहती हैं। उस दिन वे गीत भी अलग-अलग गाते हैं।

उनके नृत्य में साधारण नियम भी है, हाथ-पैरों का संचालन भी अनाकर्षक नहीं है। इसके अतिरिक्त जैत, खेमा और मुरली ने उस प्राचीन पद्धति में बहुत कुछ अपनी कल्पना से जोड़ दिया है। रंग-कुटीर के इतिहास में वहाँ कभी किसी विदेशी ने प्रवेश नहीं प्राप्त किया। गीत के गुण ने ही मुरली को इस नियम का पहला अपवाद बनाया।

क्रमशः रंग-कुटीर के खुलने का नित्य का समय भी आ पहुँचा, पर मुरली अभी तक नहीं लौटा। जैत रंग-कुटीर के आँगन में अपने मित्रों के साथ खीझ रहा था। खेमा उसके पथ की ओर दृष्टि कर विचार रही थी कि मुरली ताली लेकर चल दिया, यह उसने ठीक नहीं किया। उसके पिता मुरली की आहट में कान देकर चिंता कर रहे थे कि वह जरूर घोड़े पर सवार होकर ही लौट रहा होगा, कहीं ऐसा तो नहीं हो:

गया कि घोड़े ने उसे पीठ से गिराकर किसी पहाड़ के नीचे फेंक दिया हो।

मुरली और खेमा दोनों में से किसी को भी न आया देखकर जैत घबराया और उसके घर की ओर चला। वहाँ जाकर उसने बाहर से ही आवाज दी—"खेमा!"

खेमा ने आँगन के बाहर आकर कहा—"क्या कहूँ जैत! बड़ी देर हो गई।"

जैत ने खिन्न होकर कहा—"क्यों, बात क्या है? संध्या को वन से लौटते समय तुमने कुछ भी नहीं कहा था। तुम्हारे मुख पर उदासी क्यों छा रही है, तुमने तो कपड़े भी नहीं बदले हैं। मुरली कहाँ गया?"

खेमा ने कहा—"उसी के कारण यह सब देर हुई है। कपड़े बदलने में कौन-सा समय लगता है। वह अब भी आ जाता, तो भी कुछ देर नहीं हुई थी।"

जैत—"वह कहाँ गया है?"

खेमा—"नदी के पार मुखिया के गाँव में।"

जैत—"उसे जाने भी दो खेमा! तुम न-जाने क्या समझती हो। मुरली के न होने से क्या नृत्य भी न होगा? उसकी प्रतीक्षा व्यर्थ है। एक विदेशी का क्या मोह? वह किसी दिन यहाँ से चला जायगा। क्या फिर हम नृत्य-गीत भूल जायँगे? चलो, अभी कपड़े बदलो, मुरली मैं बजाऊँगा। तुम रंग-कुटीर की राजरानी हो, सब तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।

तुम्हारा ही रूप और स्वर हमारे कुटीर का जीवन है। मुरली की वंशी की वहाँ कोई जगह नहीं। वह पहले न थी, कुछ दिन से है, शायद कुछ दिन बाद भी न होगी।"

खेमा—"परंतु रंग-कुटीर की ताली उसी के पास है।"

जैत ने पैर पटककर कहा—"मूर्ख! ताली भी नहीं दे सका। उसे अपनी वंशी का ऐसा अभिमान हो गया। अच्छी बात है। जल्दी आओ खेमा! अब देर करने का समय नहीं। गाँव के लोग इस हिम-निवास की अंतिम रात्रि को इतनी शून्य और उदास समझकर अशकुन की आशंका करने लगे हैं। तुम्हारे ही आने की देर है। हमें ताली की भी आवश्यकता नहीं। हम आँगन में भी नृत्य कर सकते हैं। मन के उल्लास से हम काँटों की नोक, तलवार की धार और अग्नि की शिखा के ऊपर भी नाच सकते हैं। अभी सरदी भी तो अधिक नहीं पड़ती।"

खेमा से फिर जल्दी करने का आग्रह कर जैत ने वंशी बजाना आरंभ किया। खेमा अपने मकान के अंदर जाकर कपड़े बदलने लगी। कपड़े बदलकर उसने खूँटी पर से अपनी रंगीन धारीदार ऊनी चादर निकाली। खेमा उसे विशेष नृत्य में अवश्य ही ओढ़ती है। कर्ण के बीच से मोड़कर वह उसे त्रिभुजाकार बना लेती है, फिर उससे सिर और दोनो कंधों को ढककर, वक्षदेश के ऊपरी भाग में उसके दो सिरों में ग्रंथि दे देती है। शीर्ष के दोनो सिरे उसकी पीठ पर लटकते हैं।

उसने चादर सिर पर रखकर ज्यों ही ग्रंथि देने के लिये उसका एक सिरा हाथ में लिया, त्यों ही उसमें बँधा हुआ एक चाबी का गुच्छा झनझनाता हुआ उसके हाथ में आया। उसने उसे पहचाना, उसी में रंग-कुटीर की ताली थी।

मुरली खेमा को न पाकर चाबी उसकी चादर के सिरे में बाँध गया। वह भले प्रकार जानता था, खेमा आज जरूर उसी चादर को ओढ़ेगी। खेमा ने मुरली के कौशल की प्रशंसा की, और उसके अभी तक न लौट आने की चिंता।

उसने कुछ क्षण और मुरली के पथ की ओर देखा। अंत में वह ताली लेकर जैत के पास दौड़ी हुई चली गई।

रंग-कुटीर खुला, दीपक जला, और मुरली के स्थान में जैत खड़ा हुआ। नृत्य आरंभ हुआ, पर उमंग और उत्साह-विहीन, बिलकुल नीरस और फीका।

खेमा के मन में अँधेरी रात में लौटते हुए मुरली का कठिन पथ बसा हुआ था। इसके अतिरिक्त उसका गीत मुरली के वंशी-रव का सहारा पाकर ही खिल उठता है, और उन सबके गीत खेमा की स्वर-सुधा के प्रभाव से ही जागते और जीते हैं। उद्गम वही है। नाचते-नाचते जब खेमा उसकी चिंता करने लगती, तभी दाहने के बदले वाम पद उठाकर भूल कर जाती थी। उस पर जैत का पूरा-पूरा लक्ष्य था।

खेमा जब त्रुटि करती, तो जैत अपने वंशी-वादन के अज्ञान

तुम्हारा ही रूप और स्वर हमारे कुटीर का जीवन है। मुरली की वंशी की वहाँ कोई जगह नहीं। वह पहले न थी, कुछ दिन से है, शायद कुछ दिन बाद भी न होगी।"

खेमा—"परंतु रंग-कुटीर की ताली उसी के पास है।"

जैत ने पैर पटककर कहा—"मूर्ख! ताली भी नहीं दे सका। उसे अपनी वंशी का ऐसा अभिमान हो गया। अच्छी बात है। जल्दी आओ खेमा! अब देर करने का समय नहीं। गाँव के लोग इस हिम-निवास की अंतिम रात्रि को इतनी शून्य और उदास समझकर अशकुन की आशंका करने लगे हैं। तुम्हारे ही आने की देर है। हमें ताली की भी आवश्यकता नहीं। हम आँगन में भी नृत्य कर सकते हैं। मन के उल्लास से हम काँटों की नोक, तलवार की धार और अग्नि की शिखा के ऊपर भी नाच सकते हैं। अभी सरदी भी तो अधिक नहीं पड़ती।"

खेमा से फिर जल्दी करने का आग्रह कर जैत ने वंशी बजाना आरंभ किया। खेमा अपने मकान के अंदर जाकर कपड़े बदलने लगी। कपड़े बदलकर उसने खूँटी पर से अपनी रंगीन धारीदार ऊनी चादर निकाली। खेमा उसे विशेष नृत्य में अवश्य ही ओढ़ती है। कर्ण के बीच से मोड़कर वह उसे त्रिभुजाकार बना लेती है, फिर उससे सिर और दोनो कंधों को ढककर, वक्षदेश के ऊपरी भाग में उसके दो सिरों में ग्रंथि दे देती है। शीर्ष के दोनो सिरे उसकी पीठ पर लटकते हैं।

उसने चादर सिर पर रखकर ज्यों ही ग्रंथि देने के लिये उसका एक सिरा हाथ में लिया, त्यों ही उसमें बँधा हुआ एक चाबी का गुच्छा झनझनाता हुआ उसके हाथ में आया। उसने उसे पहचाना, उसी में रंग-कुटीर की ताली थी।

मुरली खेमा को न पाकर चाबी उसकी चादर के सिरे में बाँध गया। वह भले प्रकार जानता था, खेमा आज ज़रूर उसी चादर को ओढ़ेगी। खेमा ने मुरली के कौशल की प्रशंसा की, और उसके अभी तक न लौट आने की चिंता।

उसने कुछ क्षण और मुरली के पथ की ओर देखा। अंत में वह ताली लेकर जैत के पास दौड़ी हुई चली गई।

रंग-कुटीर खुला, दीपक जला, और मुरली के स्थान में जैत खड़ा हुआ। नृत्य आरंभ हुआ, पर उमंग और उत्साह-विहीन, बिलकुल नीरस और फीका।

खेमा के मन में अँधेरी रात में लौटते हुए मुरली का कठिन पथ बसा हुआ था। इसके अतिरिक्त उसका गीत मुरली के वंशी-रव का सहारा पाकर ही खिल उठता है, और उन सबके गीत खेमा की स्वर-सुधा के प्रभाव से ही जागते और जीते हैं। उद्गम वही है। नाचते-नाचते जब खेमा उसकी चिंता करने लगती, तभी दाहने के बदले वाम पद उठाकर भूल कर जाती थी। उस पर जैत का पूरा-पूरा लक्ष्य था।

खेमा जब त्रुटि करती, तो जैत अपने वंशी-वादन के अज्ञान

को, उसे सावधान करने में, छिपा देता था। उस समय गीत भंग हो जाता और नट जमुहाई लेने लगते थे।

खेमा के जाने के कुछ देर बाद मुरली लौट आया। खेमा के पिता उसे देखकर चिंता-हीन हुए, और कहने लगे—"तुमने बड़ी देर कर दी मुरली !"

मुरली—"हाँ, मुझे इतनी देर हो जाने की जरा भी संभावना न थी। मुखिया दूसरे गाँव में गया हुआ था। उसके बेटे ने कुछ देर उसकी प्रतीक्षा करने का आग्रह किया।"

पिता—"वह अब कैसा है ?"

मुरली—"कहता था, रोग दूर हो गया है, पर अभी दुर्बल बहुत है, चल-फिर नहीं सकता।"

पिता—"मुखिया से भेंट हुई ?"

मुरली—"हाँ, कुछ देर में वह आ पहुँचा।"

पिता—"घोड़ा नहीं लाए ?"

मुरली—"नहीं, वह कहता था, अब एक-दो रोज में मैं स्वयं ही मेले को प्रस्थान करूँगा।"

पिता—"चलो, यह भी चिंता दूर हुई। जाओ, खा लो। आग के पास रक्खा हुआ है।"

मुरली धीरे से "हाँ" कहकर वहाँ से चला। उसके कानों में रंग-कुटीर की अस्त-व्यस्त रागिनी पड़ी। वह बिना भोजन किए अपनी वंशी सँभालकर उस ओर चल दिया।

वहाँ जाकर उसने देखा, उसकी जगह में जैत खड़ा है।

खेमा उसे आया देखकर प्रसन्न हुई, और स्मितानन से उसका स्वागत किया। गीत के टूट जाने के डर से वह मुरली से कुछ बोली नहीं, पर उसने अपने दाहने साथी का हाथ छोड़कर उसे परिधि के अंदर ले लिया।

जैत ने मुरली के इस प्रवेश को बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। मुरली ने जब जैत के निकट जाकर उस जगह से हट जाने का संकेत किया, तो उसने इसे देखकर भी नहीं देखा।

मुरली को फिर उससे कहना पड़ा—"जाओ जैत! अपनी जगह में जाओ, अब मैं आ गया हूँ।"

जैत ने इस पर भी कुछ ध्यान नहीं दिया।

अंत में जब मुरली ने उसका हाथ पकड़कर उसे मंच से उतारना चाहा, तो उसने क्रुद्ध होकर मुरली का हाथ झटक दिया, और उसके हाथ की वंशी छीनकर दूर फेंक दी। मुरली अवाक् रह गया।

जैत ने गरजकर—"हम अपने ही पैरों पर खड़े होकर नृत्य करेंगे। हमें विदेशी की सहायता की कुछ भी आवश्यकता नहीं।"

नृत्य-गीत थम गया। मुरली ने खेमा की ओर देखा। वह नीरव ही रह गई! उसका मूक रहना ही मुरली के हृदय में तीर की तरह बिंध गया। वह चुपचाप अपनी वंशी उठाकर लौट गया। नृत्य फिर उसी प्रकार आरंभ हुआ।

मुरली लौटकर फिर अपने मकान के आँगन में आया।

खेमा के माता-पिता आग के पास बैठे-बैठे दूसरे दिन की यात्रा की कठिनाइयों का विचार कर रहे थे। सारा सामान बँधा हुआ बाहर आँगन में ही पड़ा था, उसकी चौकसी करनी थी। इसके अतिरिक्त वे प्रकृति की बनावट से अधिक प्यार करते थे।

रात की स्तब्धता में कृष्ण पक्ष की उज्ज्वलतर तारिकाएँ चमक रही थीं। कभी-कभी पशुओं की गरदन के हिलने से उसमें बँधी हुई घंटियाँ बज उठती थीं। बीच-बीच में भेड़ियों के निकटतम संबंधी—पहाड़ी कुत्ते—गीदड़ों के अमंगल रुदन को अपने प्रबल गर्जन से दबा दे रहा था। एक ओर रंग-कुटीर का संगीत था।

"तुम आ पहुँचे मुरली!" कहकर खेमा के पिता ने चिलम उठाई। वह ज्यों ही उसमें तंबाकू रखना चाहते थे कि मुरली ने उनके हाथ से चिलम ले ली, उसमें तंबाकू भरकर उसे जलते हुए कोयलों से परिपूर्ण किया, और बैठकर उसे सुलगाने लगा।

खेमा के पिता ने फिर कहा—"तुम बहुत जल्दी ही लौट आए। ठीक ही किया। दिन-भर के परिश्रम से थके हो। खाना भी नहीं खाया है, और फिर चार बजे रात ही उठकर प्रस्थान करना है!"

मुरली ने नीरव रहकर उनके हाथ में चिलम दी। वह गुड़गुड़ाते हुए बोले—"अब तुम खाना खा लो।"

मुरली एक लोटे में जल लेकर एक कोने में भोजन करने बैठा, पर उससे कुछ भी नहीं खाया गया। रंग-कुटीर का अप-

मान उसे क्षत-विक्षत कर रहा था। कुछ देर बाद वह उठा, और हाथ धोने के बहाने सब रोटियाँ घोड़े को खिला आया। बरतन धोकर उन्हें भी और बरतनों के साथ बाँध दिया।

खेमा की माता कहने लगी—"तुमने तो खाने में कुछ भी देर नहीं लगाई मुरली! क्या खाना अच्छा नहीं लगा?"

मुरली—"नहीं मा, पेट-भर खा चुका हूँ।"

खेमा के पिता बोले—"लो, तंबाकू पिओ। आज तुम अन्य-मनस्क और जरूरत से अधिक चुप हो। क्या विचार कर रहे हो, किसी से झगड़ा तो नहीं हो गया?"

मुरली ने बनावटी हँसी हँसकर कहा—"नहीं, कुछ भी झगड़ा नहीं हुआ। सामान सब बाहर ही पड़ा है, इसकी देख-भाल करनी है; फिर वहाँ भी मेरी कोई भारी आवश्यकता न थी, इसी से चला आया हूँ। अब आप विश्राम करें।"

खेमा का छोटा भाई माता की गोद में सिर रखकर जमीन पर ही सो गया था। उसे उठाकर माता मकान के अंदर चली गई।

खेमा के पिता भी उठ खड़े हुए, और जाते हुए कहने लगे—"सबसे पहले हमें ही प्रस्थान करना है। मुरली! देखो, उठने में देर न हो, फिर इतने पशु लादने हैं।"

मुरली—"नहीं, कुछ भी देर न होगी।"

उनके जाने के बाद मुरली ने झोपड़ी में कंबल बिछाकर अपनी शय्या प्रस्तुत की, पर उसकी आँखों में अभी नींद ही

न थी। उसने चिलम उलटकर फिर भरी, और आग के पास बैठा-बैठा गुड़गुड़ाने लगा। उसके कान बराबर रंग-कुटीर की ओर थे। अचानक गीत समाप्त हुआ, और सब अपने-अपने घर जाने के लिये उसके बाहर निकल आए। मुरली उसी क्षण उठा, चिलम दूर रख दी, और चुपचाप अपने बिस्तर में जाकर उसने कंबल से अपना मुख ढक नींद का बहाना कर लिया।

कुछ देर में खेमा आ पहुँची, आकर मुरली के समीप गई, और पुकारा—"मुरली!"

मुरली नींद का बहाना कर चुप रहा। खेमा ने फिर कहा—"लो, यह रंग-कुटीर की ताली है। तुम्हारे सिरहाने रख गई हूँ, इसे सँभालना।"

खेमा के पिता उसके लिये दरवाज़ा खुला ही छोड़ गए थे। उसने मकान के अंदर प्रवेश किया।

मुरली ने उठकर चाबी के गुच्छे को अपनी रक्षा में लिया। खेमा द्वार बंद कर चली गई थी। जन्मभूमि की याद से मुरली की आँखें छलछला उठीं। वह रात-भर करवटें बदलता रहा।

तीन और चार बजे के बीच में वह जाग उठा। उसने उजाला करने के लिये आग जलाई, और एक-एक कर बकरियों को लादने लगा। मुरली की खटर-पटर सुनकर खेमा के पिता भी जाग उठे, और मुरली के पास आकर कहने लगे—"मुरली! बकरियों को रहने दो, इन्हें खेमा और उसकी माता लाद लेंगी।

इसमें पहले घोड़ों को रवाना करना है, यह एक आदमी से होगा भी नहीं।"

दोनों ने मिलकर सात घोड़ों को ऊन के बने सामान से लादा। एक घोड़े में दो तंबू, दो कंबल बुनने के यंत्र और बरतन बाँध दिए गए।

खेमा और उसकी माता ने बकरियों को लादना आरंभ किया। उनकी संख्या सौ के लगभग होगी। कच्चा ऊन, चार-पाँच प्रकार के खनिज और उद्भिज व्यापारिक पदार्थ, कुछ छोटे-छोटे जानवरों की मुलायम खालें और उनके रास्ते की भोजन-सामग्री आदि आपस में जुड़े हुए दो-दो थैलों में बंद कर सी दी गई थीं। एक थैला बकरी के एक ओर और दूसरा दूसरी ओर लटकता था।

घोड़ों को प्रस्थान के लिये बिलकुल तैयार कर मुरली ने अपना झोला गले में लटकाया। यात्रा में यह झोला सदा उसके साथ रहता है। इसमें उसका नारियल, चिलम और एक टीन के डिब्बे में भरा तंबाकू रहता है। दियासलाई की डिबिया के साथ-साथ उसमें एक फ़ौलाद का चपटा टुकड़ा, दो-चार छोटे-छोटे चकमक पत्थर और एक प्रकार की वनस्पति के बहुत जल्द आग पकड़ लेनेवाले पत्ते भी रहते हैं। कभी-कभी वह झोले में एक गिलास भी रख लेता है।

उसने तंबाकू भरकर अपने स्वामी को पिलाई। उनके पी चुकने पर वह उनसे चिलम और प्रस्थान की आज्ञा लेकर उठा,

न थी। उसने चिलम उलटकर फिर भरी, और आग के पास बैठा-बैठा गुड़गुड़ाने लगा। उसके कान बराबर रंग-कुटीर की ओर थे। अचानक गीत समाप्त हुआ, और सब अपने-अपने घर जाने के लिये उसके बाहर निकल आए। मुरली उसी क्षण उठा, चिलम दूर रख दी, और चुपचाप अपने बिस्तर में जाकर उसने कंबल से अपना मुख ढक नींद का बहाना कर लिया।

कुछ देर में खेमा आ पहुँची, आकर मुरली के समीप गई, और पुकारा—"मुरली !"

मुरली नींद का बहाना कर चुप रहा। खेमा ने फिर कहा—"लो, यह रंग-कुटीर की ताली है। तुम्हारे सिरहाने रख गई हूँ, इसे सँभालना।"

खेमा के पिता उसके लिये दरवाज़ा खुला ही छोड़ गए थे। उसने मकान के अंदर प्रवेश किया।

मुरली ने उठकर चाबी के गुच्छे को अपनी रक्षा में लिया। खेमा द्वार बंद कर चली गई थी। जन्मभूमि की याद से मुरली की आँखें छलछला उठीं। वह रात-भर करवटें बदलता रहा।

तीन और चार बजे के बीच में वह जाग उठा। उसने उजाला करने के लिये आग जलाई, और एक-एक कर बकरियों को लादने लगा। मुरली की खटर-पटर सुनकर खेमा के पिता भी जाग उठे, और मुरली के पास आकर कहने लगे—"मुरली! बकरियों को रहने दो, इन्हें खेमा और उसकी माता लाद लेंगी।

इसमें पहले घोड़ों को रवाना करना है, यह एक आदमी से होगा भी नहीं।"

दोनो ने मिलकर सात घोड़ों को ऊन के बने सामान से लादा। एक घोड़े में दो तंबू, दो कंबल बुनने के यंत्र और बरतन बाँध दिए गए।

खेमा और उसकी माता ने बकरियों को लादना आरंभ किया। उनकी संख्या सौ के लगभग होगी। कच्चा ऊन, चार-पाँच प्रकार के खनिज और उद्भिज व्यापारिक पदार्थ, कुछ छोटे-छोटे जानवरों की मुलायम खालें और उनके रास्ते की भोजन-सामग्री आदि आपस में जुड़े हुए दो-दो थैलों में बंद कर सी दी गई थीं। एक थैला बकरी के एक ओर और दूसरा दूसरी ओर लटकता था।

घोड़ों को प्रस्थान के लिये बिलकुल तैयार कर मुरली ने अपना झोला गले में लटकाया। यात्रा में यह झोला सदा उसके साथ रहता है। इसमें उसका नारियल, चिलम और एक टीन के डिब्बे में भरा तंबाकू रहता है। दियासलाई की डिबिया के साथ-साथ उसमें एक फ़ौलाद का चपटा टुकड़ा, दो-चार छोटे-छोटे चकमक पत्थर और एक प्रकार की वनस्पति के बहुत जल्द आग पकड़ लेनेवाले पत्ते भी रहते हैं। कभी-कभी वह झोले में एक गिलास भी रख लेता है।

उसने तंबाकू भरकर अपने स्वामी को पिलाई। उनके पी चुकने पर वह उनसे चिलम और प्रस्थान की आज्ञा लेकर उठा,

और सबसे पहले बन आठ घोड़ों का चार्ज लेकर गुड़गुड़ा र हुआ बिदा हुआ।

जब वह कुछ दूर चला गया, तब बकरियों के झुंड को लेकर खेमा, उसकी माता और उसका भाई चले।

अब खेमा के पिता और उनका एक घोड़ा रह गया। उस घोड़े में उन्होंने कुछ अल्प-भार, बहुमूल्य व्यापारिक पदार्थों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं लादा था। उसमें एक मनुष्य के बैठने के लिये पूरी जगह थी।

सबके जाने के बाद उन्होंने आँगन के हर कोने में दृष्टि डाल-कर मकान को देखा-भाला। वे मकान को बिलकुल खाली कर जाते हैं। अतिरिक्त अन्न-धन को, चोर और चूहों से बचाने के लिये, बरतनों में भरकर जमीन में गाड़ देते हैं।

मकान के बाहर आकर उन्होंने उसके द्वार बंद किए, और उसमें ताला दिया। वहाँ से वह देव-मंदिर में गए। वहाँ उन्होंने देवता को भेंट चढ़ाई, हाथ जोड़े, और उसकी परिक्रमा करके चले। मार्ग में दूसरे पड़ोसी को अपने जाने की सूचना देकर मकान के पास आए, और घोड़े को खोलकर बिदा हुए।

उनके जाने के बाद दूसरा पड़ोसी चला। उस गाँव में कुल दस-बारह कुटुंब थे। वे सब उसी दिन मेले के लिये प्रस्थित हुए।

वे अपनी यात्रा में बड़ी शांति और धीरज से काम लेते हैं।

उनके घर का कोई काम यात्रा के कारण रुक नहीं जाता। उसी क्रम और उसी मात्रा में बराबर होता रहता है।

संगम उसके गाँव से डेढ़ सौ मील के लगभग है। वे प्रायः बीस दिन में उस दूरी को पार करते हैं। कष्टदायक पहाड़ी मार्ग होने के अतिरिक्त वे दोपहर में यात्रा में बड़ा लंबा विराम देते हैं, इसी कारण उनकी प्रगति बहुत धीमी पड़ जाती है।

बीसवें दिन खेमा के पिता संगम पहुँचे। संगम चारों ओर पहाड़ों से घिरे हुए एक समतल मैदान में है। उस मैदान में दो दिशाओं से दो भीमकाय पहाड़ी नदियाँ धीरता को प्राप्त होती हुई बहती हैं। मेले को दो भिन्न-भिन्न देशों के मार्गों से मिला देने के लिये दोनो नदियों में दो कच्चे पुल तैयार किए जाते हैं। दोनो नदियों के संगम पर महादेवजी का मंदिर बना हुआ है। यहाँ आधे मील की दूरी तक मेले का विशेष विस्तार होता है। इसके आधे हिस्से में बाजार लगता है, और आधे में व्यापारी और दर्शकों के डेरे पड़ जाते हैं।

संगम में जो थोड़े-से छोटे-छोटे पत्थर के पक्के मकान थे, उनमें एक खेमा और एक जैत के पिता का भी था। वहाँ ये लोग कुछ खेती भी करते हैं। मेले के बाद ये लोग तमाम जाड़े की ऋतु यहीं बिताते हैं।

अभी मेले के तीन दिन और थे। व्यापारी और दर्शकगण चारों रास्तों से अपने स्त्री-पुत्र, जानवरों और माल-सहित आने लगे थे। दो दिन के बीच में ये लोग वृक्षों की डालियों और

पत्ता की सहायता से सैकड़ों दूकानें सजाकर उनमे अपना सामान सजा लेंगे। दर्शक और खरीदार सबसे अधिक संख्या में पूर्णिमा के दिन ही आते हैं।

प्रतिक्षण मेले की आबादी बढ़ती ही जा रही थी। दूसरे दिन और भी अधिक लोग आ गए थे। वे सब बाजार को रचना करने में नियुक्त हुए। कोई वन से शाखा-पत्र काटकर लिए आ रहा था, कोई भूमि को खोदकर उसे समतल बना रहा था, कोई लट्ठे गाड़ रहा था, कोई दीवाल चुन रहा था, कोई चादर तान रहा था। संध्या समय तक अनेक दूकानें तैयार हो गई, और उनमें प्रकाश हो उठा। दूकानदारों ने रात-ही-रात मे दूकानें सजा दीं।

ऊन का बाजार दूसरी ओर लगता है। वे लोग तंबू तानकर उसी में अपनी दूकानें सजाते हैं। प्रत्येक का स्थान पहले ही से नियुक्त होता है।

मुरली भी ऊन के बाजार में अपना तंबू तान रहा है। जैत के पिता का तंबू पास ही लग चुका है। जैत और मुरली का उस रात से बोलना बंद है। यात्रा की अवधि-भर वे न एक दूसरे के निकट गए, न उन्होंने कभी कोई बात ही की। जैत इस समय पास ही खड़ा था। मुरली ने कई बार चाहा कि जैत से बोलूँ, पर जैत ने उस ओर देखा भी नहीं। मुरली मन में सोचने लगा, मैंने ही भला क्या अपराध किया है, जो उसके पैरों पर गिरने को जाऊँ।

मुरली ने अपने तंबू से कुछ आगे बढ़कर उसकी ओर दृष्टि की। उसका एक डंडा एक ओर कुछ अधिक झुक गया था। उसने उस ओर की रस्सी को खोलकर कुछ ढीला किया, और उसके विरुद्ध दिशा की रस्सी को उतना ही तान दिया।

इसी समय पथ पर जाता हुआ एक मनुष्य उसके निकट आया, और उसके मुख को सावधानी से कुछ देर तक देखकर बोला—"क्यों जी! तुम्हारा घर कहाँ है? तुम मुरली तो नहीं हो?"

मुरली ने भी उसे पहचान लिया, और हँसते हुए कहा—"हाँ, मुरली ही हूँ।"

मनुष्य—"तुम इन वस्त्रों में बड़े अद्भुत दिखाई दे रहे हो! तुमने अपना सब कुछ छोड़ दिया। तुम्हारा रूप भी परिवर्तित हो गया, तुम्हारा उच्चारण भी भिन्न हो गया। तुमने अपने देश का मोह इस प्रकार क्यों छोड़ दिया?"

मुरली ने उदास स्वर में कहा—"विधाता ने यही लिखा होगा भाई! तुम मेरे पड़ोस के गाँव के रहनेवाले हो। बचपन में हम कभी-कभी एक साथ वन से बाँस काटकर लाते थे। आज तुम्हारे दर्शन से बड़ा सुख मिला है। तुम कब आए? क्या कोई बिक्री का सामान साथ लाए हो?"

मनुष्य—"मैं आज ही आया हूँ। साथ में कोई सामान नहीं, केवल दर्शक होकर आया हूँ।"

मुरली—"हमारे आस-पास के कोई और भी आए हैं?"

मनुष्य—"मेरे देखने में कोई भी नहीं आया। मैं घर से अकेला ही चला था। इतनी दूर हमारे यहाँ से बहुत कम लोग आते हैं। सुना है, पूर्णिमा की रात को बाज़ार के इस सिरे पर विराट् गीत-प्रतियोगिता होनेवाली है। तुम तो उसमें निश्चय ही सम्मिलित होओगे।"

मुरली—"नहीं भाई, मैं गीत भी उसी दिन भूल गया, जिस दिन मैंने जन्मभूमि का त्याग किया।"

मनुष्य—"यह भी कहीं हो सकता है, तुम भाषा नहीं भूले, और गीत भूल गए। अब तो तुमने उसे अपने अभ्यास से बहुत ही बढ़ा लिया होगा। सुना है, राजा साहब अपने हाथ से बिजेता को बहुत बड़ा उपहार देंगे।"

मुरली—"वह मेरे माता-पिता को लौटाकर मुझे न दे सकेंगे, मेरे लिये और क्या बड़ा उपहार हो सकता है! मैंने तुम्हारे देश का सब कुछ छोड़ दिया, मुझे उपहार का भी लालच नहीं। मैं इस सामने के मकान में अपने स्वामी के पास रहता हूँ। तुम्हें रहने, खाने-पीने का कुछ भी कष्ट हो, तो वहीं चलो।"

मनुष्य—"नहीं, सब तुम्हारी कृपा है। इस समय जाता हूँ, फिर भेंट होगी ही।"

मनुष्य चला गया। खेमा के पिता खा-पीकर आ पहुँचे। वह तंबू के अंदर गए। मुरली उसमें टाट बिछा रहा था।

खेमा के पिता तंबू का निरीक्षण कर बोले—"मुरली, अब

तुम जाकर खाना खा लो। फिर तुम्हें तमाम बिक्री का सामान यहाँ पहुँचाने की चिंता करनी है।"

मुरली चला गया। उसने खा-पीकर तमाम सामान वहाँ पहुँचाया। संध्या के समय तक दूकान सज गई, और खेमा के के पिता उसमें आसन जमाकर बैठ गए। मेले का क्रय-विक्रय आरंभ हो चुका था।

किसी प्रकार भोर हुआ, और मेले का दिन आया। पहले पहर से ही तमाम बाज़ार, नदियों के तट और मार्ग भर गए थे। संध्या-समय तक सात-आठ हज़ार मनुष्य वहाँ पर एकत्र हो गए होंगे। पहाड़ के उस भाग में इतने मनुष्य और कहीं भी नहीं जुटते थे।

रात होने पर दीप-मालाएँ जगमगा उठीं, और, आकाश में वर्ष का सबसे प्रिय चंद्रमा प्रविष्ट हुआ। इसी रात में मेले की चरम सीमा थी। नदी के समानांतर जाते हुए पथ के एक सिरे पर खेमा के प्रदेशवालों की नृत्य-भूमि थी। सुविशाल पीपल के वृक्ष के नीचे वे लोग नाचते थे। एक ओर चंद्रिका में प्रतिफलित रजत-रेखाओं से भरी नदी का कलरव रहता था, दूसरी ओर व्यापार का संघर्ष भरा कोलाहल।

सब लोग खा-पी चुके थे। नृत्य और गीत धीरे-धीरे आरंभ हो रहे थे। खेमा के पिता दूकान में बैठे हुए दिन-भर की बिक्री का हिसाब लगा रहे थे। उसकी माता और भाई मकान की खिड़की के पास बैठे हुए मेले को देख रहे थे। मुरली मकान के

बाहर बैठा हुआ एक-दो बरतन मल रहा था। वह वीतराग हो गया था। उसने खेमा के नाच में चलने के आग्रह को टाल दिया था। खेमा उस पीपल के वृक्ष के नीचे चली गई थी।

मुरली ने बरतन साफ़ कर रख दिए। जल की कमी देखकर वह घड़ा उठाकर नदी-तट को चला। वहाँ से उसने सतृष्ण दृष्टि से नृत्य-स्थल की ओर देखा। गीत-प्रतियोगिता की भीड़ में गीत आरंभ हो चुका था। मुरली के कानों में वह गीत पड़ा, उसका सारा मोह नष्ट हो गया। चिर-परिचित भाषा और स्वर में उसका गीत! वह क्या कभी भूला जा सकता है? इन पाँच वर्षों को छोड़कर मुरली का शेष जीवन उसी में बीता है। वह अस्थिर हो उठा। उसने शीघ्रता से जल भरा, और मकान की ओर चला। जल का बरतन रखकर उसने अपनी वंशी सँभाली, और उस पीपल के वृक्ष के नीचे खेमा के पास चला गया।

उसने देखा, आज खेमा बड़ी सुंदरता से नाच और गा रही थी। चंद्रमा की ज्योति में उसकी गीत-तल्लीन मुख-कांति अद्भुत शोभा दे रही थी। उसके मधुरतम स्वर की माया में उसके शब्दों को न समझनेवाले विदेशी भी मुग्ध होकर खड़े थे। मुरली ने विचारा, यदि खेमा की सहायता मिल जाय, तो मुझे गीत की प्रतियोगिता में किसी का भय नहीं। उसने पुकारा—"खेमा! यहाँ आओ।"

खेमा उसी क्षण नृत्य छोड़कर बाहर उसके पास आई, और

कहने लगी—"मुझे प्रसन्नता है मुरली, तुम आ गए। तुमने यह बड़ा अच्छा किया। उत्सव की रात्रि सदा नहीं रहती, कलह के लिये कोई भी दिन हो सकता है।"

"खेमा! मेरी एक बात सुनोगी?"

"क्यों नहीं, मुरली!"

"मैं यहाँ गीत-प्रतियोगिता में सम्मिलित होना चाहता हूँ, मेरे साथ चलोगी?"

"मैं विदेशिनी वहाँ क्या करूँगी, अच्छी तरह इस भाषा को समझ भी नहीं सकती, बोलना तो एक ओर रहा।"

"मैं विदेशी होकर इतने वर्ष से तुम्हारे बीच में हूँ। तुम क्षण-भर के लिये भी मेरे साथ न चलोगी। वहाँ चलकर तुम केवल मेरे गीत की टेक को दुहराती रहोगी। गीत के बोल मैं अभी तुम्हें वहाँ जाते-जाते याद करा देता हूँ, एक ही पंक्ति तो है। स्वर वही, जो इस समय तुम्हारे नृत्य में चल रहा है। खेमा, तुम्हारे इस सुवर्ण-संयोग से मेरा गीत चमक उठेगा, मैं वहाँ से विजयी होकर आऊँगा। वहाँ बहुत देर न लगेगी, और हम साथ-साथ अपने नृत्य-स्थल में आ पहुँचेंगे।"

खेमा ने मुरली को अपने नृत्य-चक्र में पाने के लोभ से कहा "चलो।"

दोनो ने प्रतियोगिता में प्रवेश किया। मुरली ने खेमा और अपनी वंशी के स्वरों से परिपूर्ण कर गीत आरंभ किया। दर्शक "धन्य-धन्य" कहने लगे। निर्णायकों की दृष्टि में मुरली

आने लगा, अनेक गायक और दर्शकों ने मुरली की टेक दुह-रानी आरंभ की।

खेमा के आने में देर होती देखकर उधर जैत घबरा उठा। वह नाच छोड़कर बाहर आया, और इधर-उधर उसकी खोज में दौड़ने लगा। अंत में उसने गीत की प्रतियोगिता में उसके स्वर सुने। उसने क्रोध से लाल होकर खेमा को पुकारा, वह उसका हाथ खींचकर उसे बाहर लाया, और कहने लगा—"छिः-छिः खेमा! तुम्हें विदेशियों के बीच में गाते हुए लज्जा नहीं आई? हमारे यहाँ के लोग देखेंगे, तो क्या कहेंगे? चलो!"

खेमा ने मूक होकर जैत का अनुकरण किया।

इस समय मुरली अकेला ही गा रहा था। उस पर यह सब विदित नहीं हुआ, उस ओर उसकी दृष्टि न थी। उसने अंतरा समाप्त किया। अचानक उसे गीत की टेक में खेमा का स्वर न मिला! उसने खेमा के स्थान की ओर देखा, वह चकित और उदास हो गया। देखा, खेमा अंतर्धान हो गई थी। वह सब समझ गया। वह फिर एक क्षण के लिये भी प्रति-योगिता में न रुका। लोग उसे रोकने लगे, पर वह दौड़कर लोगों में मिल गया। उसने दुखी होकर वंशी दाँतों के बीच में डाली, और जोर से दाँतों को मिला दिया। वंशी फट गई। उसने दोनो हाथों से चीरकर उसे नदी में फेक दिया!

वह नदी के कच्चे पुल पर आया, उसके बीच में एक

किनारे की ओर जाकर फिर रुक गया। फिर कुछ विचार कर वह आगे बढ़ा, और उस अज्ञात पथ को ग्रहण कर फिर न-जाने कहाँ चला गया!

बहुत अच्छा

राजसभा दरबारियों से परिपूर्ण थी। महाराज ऊँचे सिंहासन पर, बाईं हथेली पर सिर रक्खे, उदास बैठे थे। सीमाप्रांत पर एक विदेशी शत्रु चढ़ आया था। उसके उत्पात को शांत करने के लिये राजकुमार एक बहुत बड़ी सेना लेकर गया था। कई दिन बीत जाने पर भी उसने युद्ध का कोई समाचार नहीं भेजा, यही राजा की चिंता का कारण था।

मंत्री ने महाराज को आश्वासन देते हुए कहा—"व्याकुल होने की कोई आवश्यकता नहीं है महाराज! राजकुमार देश के चुने हुए वीरों को साथ लेकर युद्ध-भूमि में गए हैं। शत्रु की शक्ति साधारण है। वह शीघ्र ही उसे परास्त कर महाराज का आशीर्वाद ग्रहण करेंगे।"

राजा को इससे तिल के बराबर भी संतोष न मिला। उन्होंने दीर्घ श्वास ली। सारी सभा में घोर सन्नाटा छा गया।

राजसभा में एक कवि भी था। वह नवयुवक था, उसका विवाह नहीं हुआ था। वह महाराज को अपने काव्य से प्रमोदित करता था। महाराज भी उसके गुण को यथोचित सम्मान देते थे। कवि अपने आसन से उठा, और सदा की भाँति, महाराज को प्रसन्न करने के लिये, कविता का पाठ आरंभ करने

लगा। पहले ही पद के बीच में महाराज ने हाथ उठाया, और कवि से बैठ जाने का संकेत करते हुए कहा—"रहने दो कवि! आज कविता से चिंता दूर न होगी, आज मन में चैन नहीं है।"

कवि ने कहा—"उसे बेचैन ही न होने दीजिए महाराज! उसकी नकेल अपने हाथ में रखिए। कुछ छाती बाहर निकालिए, सिर ऊँचा कीजिए, ओष्ठाधर की मिलन-रेखा को खींचकर बढ़ाइए, और चिंता को बड़े अपराधी की भाँति अपने मनोराज्य से सदा के लिये निर्वासित कर दीजिए।"

महाराज ने उत्तर दिया—"यह भी क्या अपने हाथ की बात है कवि! मन के ऊपर किस प्रकार स्वामित्व स्थापित किया जा सकेगा? सुख और दुःख से प्रभावित होना ही उसका गुण है।"

कवि ने मंद-मंद मुस्किराकर कहा—"महाराज! सुख और दुःख, इस तरह दो स्पष्ट विभाग क्यों करते हैं? दुःख की सबसे अंधकारमयी घड़ी में भी सुख का अनुभव कीजिए। विधाता के किसी विधान को दुःखदायक न समझिए। जो कुछ भी होता है, अच्छा है, बहुत अच्छा है, उससे अच्छा और कुछ हो नहीं सकता।"

महाराज—"तुम्हें आज ज़रूर कुछ हो गया है। तुम्हारी विवेक-शक्ति पथ-भ्रष्ट तो नहीं हो गई?"

इतने में युद्ध-क्षेत्र से दूत ने आकर अभिवादन-पूर्वक कहा—"महाराज की जय हो। सीमा-प्रांत पर आक्रमण करनेवाली

शत्रु-सेना पर राजकुमार ने विजय पाई है। शत्रु के मुख्य नेता को, उसके अनेक साथियों के साथ, गढ़ में बंदी कर लिया गया है। केवल उसका एक दल अभी वश में नहीं हुआ। वह कभी-कभी रात में क़िले पर आक्रमण कर अपने नेता को छुड़ाने की व्यर्थ चेष्टा करता है। दो-चार दिन में रिपु का मूलोच्छेद कर राजकुमार राजधानी की ओर यात्रा करेंगे।"

महाराज प्रसन्न हो उठे, और उस सबसे पहले विजय-समाचार सुनानेवाले को प्रचुर धन उपहार में दिया।

कवि ने कहा—"जो भी कुछ होता है, अच्छा है, बहुत अच्छा है, उससे अच्छा और कुछ हो नहीं सकता।"

महाराज ने कहा—"तुम सच कहते हो कवि! यह विजय का संदेश है। बहुत अच्छा है, इससे अच्छा और क्या हो सकता है?"

कवि—"मेरा मतलब केवल विजय से ही नहीं, पराजय का समाचार भी उतना ही अच्छा है महाराज!"

महाराज—"तुमने फिर वही भूल की। ऐसे समय तुम्हें स्तब्ध रहना पड़ेगा कवि! मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। तुम आलोक और अंधकार में कोई भेद नहीं रखना चाहते। तुम अंधे हो, केवल अंधे का जगत् दिन और रात के भेद से मुक्त है।"

कवि—"अपराध क्षमा हो महाराज! कई अंधे ऐसे हैं, जिन्होंने कभी ठोकर नहीं खाई, पर अनेक नेत्रवानों को प्रकाश

में मुँह की खाते देखकर क्या अंधे के जीवन में कोई कमी प्रतीत हो सकती है ?"

इसी समय रण-क्षेत्र से दूसरे दूत ने राजसभा में प्रवेशकर माथा नवाया। उसने अपना मुख उदास बना रक्खा था, वह कुछ देर नीरव ही खड़ा रहा।

महाराज ने शंकित होकर पूछा—"युद्ध के क्या समाचार हैं ?"

दूत ने डरते-डरते कहा—"बहुत बुरा समाचार है महाराज! शत्रु के शेष दल ने रात-ही-रात में बारूद से दुर्ग की प्राचीर में पथ बना साथियों-सहित नेता को मुक्त कर लिया। राजकुमार की कुछ सेना नष्ट हो गई, कुछ शत्रु ने बंदी कर ली। दुर्ग में रिपु ने अपनी पताका फहराई है। राजकुमार को वन में छिपना पड़ा है। उन्होंने आपके पास यहाँ बची हुई शेष सेना भेज देने की बिनती की है। उन्होंने यह भी कहा है, महाराज का यहाँ आकर कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।"

महाराज का प्रसन्न मुख फिर कुम्हला गया। उन्होंने चिंता-कुल होकर कहा—"अभी जय और अभी पराजय का समाचार, यह तुमने क्या सुनाया राजदूत !"

कवि ने दुहराया—"जो भी कुछ होता है, अच्छा है, बहुत अच्छा है, इससे अच्छा और कुछ हो नहीं सकता।"

पराजय का यह उपहास महाराज को ज़रा भी अच्छा न लगा। उन्होंने क्रोध-पूर्वक कहा—"सँभलकर मुख खोलो

शत्रु-सेना पर राजकुमार ने विजय पाई है। शत्रु के मुख्य नेता को, उसके अनेक साथियों के साथ, गढ़ में बंदी कर लिया गया है। केवल उसका एक दल अभी वश में नहीं हुआ। वह कभी-कभी रात में क़िले पर आक्रमण कर अपने नेता को छुड़ाने की व्यर्थ चेष्टा करता है। दो-चार दिन में रिपु का मूलोच्छेद कर राजकुमार राजधानी की ओर यात्रा करेंगे।"

महाराज प्रसन्न हो उठे, और उन सबसे पहले विजय-समाचार सुनानेवाले को प्रचुर धन उपहार में दिया।

कवि ने कहा—"जो भी कुछ होता है, अच्छा है, बहुत अच्छा है, उससे अच्छा और कुछ हो नहीं सकता।"

महाराज ने कहा—"तुम सच कहते हो कवि! यह विजय का संदेश है। बहुत अच्छा है, इससे अच्छा और क्या हो सकता है?"

कवि—"मेरा मतलब केवल विजय से ही नहीं, पराजय का समाचार भी उतना ही अच्छा है महाराज!"

महाराज—"तुमने फिर वही भूल की। ऐसे समय तुम्हें स्तब्ध रहना पड़ेगा कवि! मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। तुम आलोक और अंधकार में कोई भेद नहीं रखना चाहते। तुम अंधे हो, केवल अंधे का जगत् दिन और रात के भेद से मुक्त है।"

कवि—"अपराध क्षमा हो महाराज! कई अंधे ऐसे हैं, जिन्होंने कभी ठोकर नहीं खाई, पर अनेक नेत्रवानों को प्रकाश

में मुँह की खाते देखकर क्या अंधे के जीवन में कोई कमी प्रतीत हो सकती है ?"

इसी समय रण-क्षेत्र से दूसरे दूत ने राजसभा में प्रवेशकर माथा नवाया। उसने अपना मुख उदास बना रक्खा था, वह कुछ देर नीरव ही खड़ा रहा।

महाराज ने शंकित होकर पूछा—"युद्ध के क्या समाचार हैं ?"

दूत ने डरते-डरते कहा—"बहुत बुरा समाचार है महाराज ! शत्रु के शेष दल ने रात-ही-रात में बारूद से दुर्ग की प्राचीर में पथ बना साथियों-सहित नेता को मुक्त कर लिया। राजकुमार की कुछ सेना नष्ट हो गई, कुछ शत्रु ने बंदी कर ली। दुर्ग में रिपु ने अपनी पताका फहराई है। राजकुमार को वन में छिपना पड़ा है। उन्होंने आपके पास यहाँ बची हुई शेष सेना भेज देने की बिनती की है। उन्होंने यह भी कहा है, महाराज का यहाँ आकर कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।"

महाराज का प्रसन्न मुख फिर कुम्हला गया। उन्होंने चिंता-कुल होकर कहा—"अभी जय और अभी पराजय का समाचार, यह तुमने क्या सुनाया राजदूत !"

कवि ने दुहराया—"जो भी कुछ होता है, अच्छा है, बहुत अच्छा है, इससे अच्छा और कुछ हो नहीं सकता।"

पराजय का यह उपहास महाराज को ज़रा भी अच्छा न लगा। उन्होंने क्रोध-पूर्वक कहा—"सँभलकर मुख खोलो

कवि ! राज्य के ऊपर आपत्तियों का पर्वत टूटना चाहता है, और तुम्हें हँसी सूझी है !"

कवि—"कैसी हँसी महाराज ! क्या मैंने आपकी जय के अवसर पर भी यही नहीं कहा था ? मैं फिर कहता हूँ, चिंता छोड़िए महाराज ! यह भी अच्छे ही के लिये है।"

महाराज ने और भी रक्तिम होकर कहा—"चुप रहो, राजा की अप्रसन्नता की अग्नि में घृत की आहुतियाँ न छोड़ो।"

कवि—"मैंने जिसे सत्य अनुभव किया है, केवल उसी को प्रकट किया है।"

महाराज—"यह सत्य मुझे प्रिय नहीं है।"

कवि—"मैंने स्तुति के गीतों से कभी महाराज का आश्रय नहीं खरीदा।"

मंत्री ने महाराज का क्रोध बहुत बढ़ते देखकर कवि से कहा—"शांत होओ कवि ! राजा का भय करो।"

पर कवि पर इसका कुछ भी प्रभाव पड़ता न प्रतीत हुआ। महाराज ने कहा—"तुम अपना विचार न बदलोगे ? क्या तुम राजा की प्रसन्नता का मूल्य नहीं जानते ? अभागे कवि ! वाणी की माधुरी से प्रसन्न होकर राजा अपना रत्न-मुकुट उतारकर तेरे जिस सिर पर रख सकता है, उसी को उसकी अप्रसन्नता क्षण-भर में छिन्न कर भूमि पर भी उतार सकती है।"

कवि ने निर्भय होकर उत्तर दिया—"यदि ऐसा हो जाय,

जो यह भी अच्छा है, बहुत अच्छा है, इससे अच्छा और हो क्या सकता है?"

मंत्री ने कहा—"तुम्हें अपनी नवीन अवस्था का मोह नहीं?"

कवि—"मैं नवीन और प्राचीन को भिन्न नहीं समझता।"

राजा—"तुम मृत्यु से नहीं डरते?"

कवि—"वह अवश्यंभावी है।"

महाराज के क्रोध में उबाल आ गया। उन्होंने उसी क्षण एक सैनिक को कवि के हाथों में हथकड़ियाँ डाल देने की आज्ञा दी, और राज्य के वधिक को बुलाकर कहा—"इसे ले जाकर इसकी जीभ जड़ से काट दो वधिक! यह उससे झूठे सत्य को प्रचारित करना चाहता है।" इसके बाद आज्ञा बदल-कर महाराज ने फिर कहा—"नहीं, इसकी जीभ न काटो। जीता बच जाने पर यह अपने संकेतों से मन का भाव प्रकट करेगा। इसे ले जाओ, और इसकी कमर में रस्सी बाँधकर उबलते हुए तेल की कड़ाही में छोड़ दो। संध्या-समय मैं स्वयं वध-भूमि में आकर देखूँगा, इसे मृत्यु के मुख में कौन-सी अच्छाई मिलती है।"

"जो आज्ञा" कहकर वधिक ने महाराज को प्रणाम किया, और सैनिक से बंदी कवि को ले चलने का इशारा किया।

उनके जाने पर महाराज ने मंत्री को संध्या-समय तक शेष सेना के संगठित होकर प्रस्थान के लिये तैयार किए जाने की आज्ञा दी।

वधिक चिंतित होकर वध-भूमि की ओर जा रहा था। बीच में बंदी कवि और उसके पीछे सैनिक उसका अनुसरण कर रहे थे। वधिक की इच्छा न हुई कि कवि के वध का यह समाचार शीघ्र ही राजधानी में फैल जाय, इसलिये उसने जनाकीर्ण राजमार्ग को छोड़कर एकांत पथ ग्रहण किया। वध-भूमि नगर के बाहर थी।

हठात् चलते-चलते वह रुक गया, कवि और प्रहरी भी ठहर गए। वधिक ने कहा—"कवि के बंधन खोल दो सैनिक! वह मुक्त होकर हमारी पहुँच के बाहर न भाग जायगा।"

सैनिक ने कुछ डरकर कहा—"महाराज की आज्ञा!"

वधिक—"हाँ, वह कवि के वध के लिये है सैनिक! तू क्या समझता है? ऐसा कवि इतनी निर्दयता से मृत्यु के मुख में डाल देने के योग्य है?"

सैनिक—"निस्संदेह, कवि ने कोई गुरुतर अपराध नहीं किया है।"

वधिक ने कवि की हथकड़ियाँ खोलते हुए कहा—"कवि को दंड देने में राजा ने बड़ा अन्याय किया है। निश्चय ही कुछ दिन में, जब उनका क्रोध शांत हो जायगा तो, उन्हें इस दंड का बड़ा पश्चात्ताप होगा। उस समय जो भी उन्हें कवि के जीवन का समाचार देगा, वही पुरस्कृत होगा। तू अभी नया ही नियुक्त हुआ है। महाराज के स्वभाव को नहीं जानता।"

सैनिक ने विस्मित होकर कहा—"क्या तुम कवि को मुक्त कर भाग जाने में मदद दोगे ?"

वधिक—"बिलकुल इसी तरह नहीं। पर यह याद रक्खो, महाराज को पाप से और कवि को मृत्यु से निस्संदेह बचाना है।"

सैनिक—"किस तरह ?"

वधिक—"महाराज को कुछ भी ज्ञान न हो, तुम्हारी नौकरी न जाय, और मैं शंका का पात्र न बनूँ। नगर में एक कपड़े के पुतले बनाता है, तुम उसे जानते हो ?"

सैनिक—"हाँ।"

वधिक—"उसके पास कुछ पुतले मनुष्य की ऊँचाई के भी बने रक्खे हैं।"

सैनिक—"मैंने उन्हें भी देखा है।"

वधिक—"ले, यह एक अशर्फ़ी है। कवि की ऊँचाई को याद कर और इसी के बराबर एक पुतला मुँह-माँगे दाम देकर खरीद ला। वह वस्त्र भी बेचता है। एक धोती, एक चादर और एक झोली बनाने लायक कपड़ा भी उससे मोल ले लेना। वही चार टाँके लगाकर तेरे लिये झोली भी तैयार कर देगा। उसी से इन सबको गेरुए रँग में रँग देने की बिनती करना। कहना, किसी नवदीक्षित के लिये इसकी आवश्यकता आ पड़ी है। पुतले के घुटने मोड़कर उसे कपड़े में बाँध-

कर ले आ। जा, कोई भी क्षण नष्ट न कर। आँधी के वेग से जा, और बिजली के वेग से आ।"

सैनिक अशर्फी लेकर चला गया। कवि ने मुस्किराकर वधिक की ओर देखा। दोनो चुपचाप वध-भूमि की ओर जाने लगे।

वधिक ने कहा—"हाँ कवि, यदि इस प्रकार मैं तुम्हें मृत्यु-मुख से बचाने में सफल हो जाऊँ, तो कैसा होगा?"

कवि—"पर तुम मुझे बचाने के लिये इतने उत्सुक क्यों हो गए वधिक!"

वधिक—"तुम्हारा काव्य नहीं समझता तो क्या? मेरे भी हृदय है, उसमें भी इच्छाएँ हैं। क्या तुम्हें इसमें कोई आपत्ति है?"

कवि—"नहीं।"

वधिक—"केवल एक बात है, बचकर फिर तुम यहाँ न रह सकोगे।"

कवि—"मैं किसी दूसरे राजा के देश को भाग जाऊँगा।"

दोनो ने वध-भवन में प्रवेश किया। वहीं एक ओर वधिक का मकान था, उसमें वह अपने स्त्री-पुत्रों के साथ रहता था। बीच में ऊँची-ऊँची दीवालें बनाकर उसका मकान वध-भवन के भयानक दृश्यों से छिपा दिया गया था।

वधिक ने कवि को ऊँचे आसन पर बिठाया, और स्वयं भूमि पर बैठकर कहने लगा—"यहाँ कभी कोई कवि नहीं

आया, आज उसके आगमन से यह पवित्र हुआ है। मैंने संख्यातीत दुष्ट मनुष्यों का वध किया है। मेरा हृदय पत्थर का बना हुआ है। मेरे मन में आज ही राजा के दंड-प्राप्त मनुष्य के प्रति दया का भाव उपजा है।"

कवि ने कहा—"भगवान् के हर वरदान में काँटा छिपा हुआ है, और उसके प्रत्येक अभिशाप के आवरण में फूल खिले हुए हैं।"

वधिक ने उत्तर दिया—"यह सच है कवि!"

कवि ने देखा, आँगन के बीचोबीच एक शूली गड़ी हुई थी। उसमें रक्त का कोई चिह्न न देखकर उसने कहा—"क्या अब शूली नहीं दी जाती?"

वधिक—"मृत्यु के इन भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग महाराज की इच्छा पर निर्भर है। शूली का भी उपयोग होता रहता है।"

कवि—"तुम्हारे यूप-काष्ठ में भी रक्त का कोई छींटा नहीं है।"

वधिक ने कुछ मुस्किराकर कहा—"हाँ, मैं उसे अपने हाथ से तत्क्षण धो देता हूँ।"

कवि—"तुमने इस स्थान की स्वच्छता पर विशेष ध्यान रक्खा है।"

वधिक ने अपने दो सेवकों को बुलाया। एक को उस मनुष्य से भी ऊँची कड़ाई के नीचे खूब आग धधकाने को कहा,

कर ले आ। जा, कोई भी क्षण नष्ट न कर। आँधी के वेग से जा, और बिजली के वेग से आ।"

सैनिक अशर्फी लेकर चला गया। कवि ने मुस्किराकर वधिक की ओर देखा। दोनो चुपचाप वध-भूमि की ओर जाने लगे।

वधिक ने कहा—"हाँ कवि, यदि इस प्रकार मैं तुम्हें मृत्यु-मुख से बचाने में सफल हो जाऊँ, तो कैसा होगा?"

कवि—"पर तुम मुझे बचाने के लिये इतने उत्सुक क्यों हो गए वधिक!"

वधिक—"तुम्हारा काव्य नहीं समझता तो क्या? मेरे भी हृदय है, उसमें भी इच्छाएँ हैं। क्या तुम्हें इसमें कोई आपत्ति है?"

कवि—"नहीं।"

वधिक—"केवल एक बात है, बचकर फिर तुम यहाँ न रह सकोगे।"

कवि—"मैं किसी दूसरे राजा के देश को भाग जाऊँगा।"

दोनो ने वध-भवन में प्रवेश किया। वहीं एक ओर वधिक का मकान था, उसमें वह अपने स्त्री-पुत्रों के साथ रहता था। बीच में ऊँची-ऊँची दीवालें बनाकर उसका मकान वध-भवन के भयानक दृश्यों से छिपा दिया गया था।

वधिक ने कवि को ऊँचे आसन पर बिठाया, और स्वयं भूमि पर बैठकर कहने लगा—"यहाँ कभी कोई कवि नहीं

आया, आज उसके आगमन से यह पवित्र हुआ है। मैंने संख्यातीत दुष्ट मनुष्यों का वध किया है। मेरा हृदय पत्थर का बना हुआ है। मेरे मन में आज ही राजा के दंड-प्राप्त मनुष्य के प्रति दया का भाव उपजा है।"

कवि ने कहा—"भगवान् के हर वरदान में काँटा छिपा हुआ है, और उसके प्रत्येक अभिशाप के आवरण में फूल खिले हुए हैं।"

वधिक ने उत्तर दिया—"यह सच है कवि!"

कवि ने देखा, आँगन के बीचोबीच एक शूली गड़ी हुई थी। उसमें रक्त का कोई चिह्न न देखकर उसने कहा—"क्या अब शूली नहीं दी जाती?"

वधिक—"मृत्यु के इन भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग महाराज की इच्छा पर निर्भर है। शूली का भी उपयोग होता रहता है।"

कवि—"तुम्हारे यूप-काष्ठ में भी रक्त का कोई छींटा नहीं है।"

वधिक ने कुछ मुस्किराकर कहा—"हाँ, मैं उसे अपने हाथ से तत्क्षण धो देता हूँ।"

कवि—"तुमने इस स्थान की स्वच्छता पर विशेष ध्यान रक्खा है।"

वधिक ने अपने दो सेवकों को बुलाया। एक को उस मनुष्य से भी ऊँची कड़ाई के नीचे खूब आग धधकाने को कहा,

और दूसरे को उस कढ़ाई में तेल भर देने की आज्ञा दी दोनो अ-ने-अपने काम में जुटे।

कवि कहने लगा—"तुमने अनेक मनुष्यों का अंत समय देखा है, सन्निकट मृत्यु की वेदना का वर्णन कर सकते हो, वधिक ?"

वधिक—"नहीं कवि ! वध करते समय हम अपराधी का सिर एक काले कपड़े से ढक देते हैं।"

कुछ देर बाद सैनिक तमाम चीजों को लेकर आ गया। वधिक ने कवि और उस पुतले की ऊँचाई की समता को जाँचकर संतोष प्रकट किया। उसने उन सब वस्तुओं को कुछ देर के लिये वहीं पर छिपाकर कहा—"महाराज के आने पर कढ़ाई की ओट के उस कोने में तुम्हें अपने कपड़े इन कपड़ों से बदलने होंगे।"

कवि ने नीरव हास्य से अपनी स्वीकृति प्रकट की। वधिक के दोनो सेवकों ने उसके समीप आकर नम्रता से कहा—"स्वामी ! सब तैयार है।"

वधिक ने उस ओर देखा। आग प्रज्वलित हो उठी थी, और तेल के धरातल पर प्रकाश फैला हुआ था। कढ़ाई के दोनो ओर उससे ऊँचे दो खंभे गड़े हुए थे। उनके ऊपरी सिरों पर एक लोहे की गोल छड़-स्थित थी। उस छड़ी में एक तरफ एक रस्सी पड़ी हुई थी। उसके दोनो छोर भूमि पर लटकते थे।

वधिक ने दोनो सेवकों को वहाँ से चले जाने का हुक्म दिया, और कहा—"बाहर जाकर राजभवन के पथ की ओर ध्यान लगाओ, महाराज के आने का आभास पा तुरंत मुझे सूचित करो।"

सेवकों के जाने पर कवि ने कहा—"महाराज इस छिपे कोने की ओर न जायँगे ?"

वधिक—"नहीं, उधर पर्याप्त आँच और धुआँ है; फिर हम तुम्हें बहुत देर तक महाराज की आँखों की ओट में रक्खेंगे ही नहीं।"

वधिक का संकेत पाकर सैनिक ने द्वार बंद कर दिया। इसके बाद वह पुतले तथा वस्त्रों को निकालकर कवि को उस कोने में ले गया, और कहने लगा—"तुम अपने कपड़े बदलकर फौरन् इस जगह छिप जाना।"

कवि ने सिर हिलाकर अपनी सम्मति प्रकट की। वधिक ने पुतला और कपड़े वहीं पर छिपा दिए। दोनो द्वार के समीप आए, और राजा के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

संध्या का समय था। महाराज की सेना युद्ध को प्रस्थान करने के लिये खड़ी थी। महाराज स्वयं सेनापतित्व ग्रहण कर वहाँ जाना चाहते थे, पर मंत्री स्वयं जाने को तैयार हो गया राजकुमार ने भी इसी बात जोर पर दिया था।

महाराज ने उत्साहोत्पादक उपदेश देकर सेना को बिदा किया, और कुछ शरीर-रक्षकों को साथ लेकर वध-भूमि की ओर चले

वधिक के सेवकों ने राजा के आने की सूचना दी। वधिक, सैनिक और कवि सावधान होकर खड़े हो गए।

महाराज ने वध-भूमि में प्रवेश कर कहा—"सब कुछ तैयार है वधिक!"

वधिक—"हाँ, महाराज!"

महाराज—"इसके विचार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ?"

वधिक—"कुछ भी नहीं।"

महाराज—"यह क्षमा नहीं चाहता।"

वधिक—"नहीं महाराज!"

महाराज—"तो अब कुछ भी देर न करो। इसकी अशकुन-भरी वाणी से ही हमारी पराजय हुई है। मैं अभी फिर सेना को बिदा कर आया हूँ। इसकी बलि दो, वह अवश्य विजय प्राप्त करेगी।"

वधिक कवि को धक्का देकर कढ़ाई की ओर ले गया। कढ़ाई में तेल उबलने लगा था। कवि ने ओट में जाते ही अपने वस्त्र बदल दिए; और छिप गया। वधिक ने उसी क्षण वे कपड़े पुतले को पहना दिए, और एक काले कपड़े से उस पुतले का सिर ढककर बाँध दिया। छड़ से लटकती हुई रस्सी का एक सिरा उसकी दोनों बग़लों से निकालकर उसकी छाती के ऊपर मज़बूत गाँठ दे दी।

वधिक ने उस रस्सी का दूसरा सिरा खींच लिया। पुतला

कड़ाई के ऊपर झूलने लगा। वधिक उस रस्सी को सरकाकर छड़ के बीचोबीच ले आया।

राजा ने व्यंग्य-पूर्वक कहा—"जो होता है, सब अच्छे ही के लिये होता है। अभागे कवि, तूने अच्छाई का अनुभव किया?"

वधिक ने विह्वल होकर पुकारा—"महाराज आज्ञा दीजिए, मेरे अंग में गरम तेल के छींटे पड़ने लगे हैं।"

महाराज ने कहा—"रस्सी ढीली कर दो।"

वधिक ने धीरे-धीरे रस्सी ढीली कर दी। पुतला तेल की कड़ाई में उबलने लगा।

महाराजा के महल की ओर लौट जाने पर सैनिक भी जाने लगा। वधिक ने धीरे-धीरे उससे कहा—"सैनिक! कवि का भेद किसी को न देना। अब उसके साथ तेरे और मेरे जीवन भी संबद्ध हो गए हैं।"

सैनिक उसे हाथ जोड़कर चला गया। वधिक ने कड़ाई के नीचे की आग को बुझाने का भार स्वयं अपने सिर पर लेकर उन दोनो सेवकों को भी बिदा कर दिया। उसने फिर वध-भवन के आँगन का द्वार बंद किया, और कवि के पास जाकर देखा, तो उसे भूमि पर सोता हुआ पाया!

वधिक ने आश्चर्य-पूर्वक कहा—"कवि! तुम सो गए?"

कवि ने आँख मलते हुए उठकर कहा—"हाँ, सूर्य छिपने के बाद मैं सो जाता हूँ। यह मेरी बहुत दिनों की आदत है। इस

पर आज रात-भर मुझे जागना पड़ेगा। इस कारण मैंने यह कुछ देर आराम कर लेना उचित समझा।"

वधिक—"मैंने तुम्हारे आराम में विघ्न किया।"

कवि—"नहीं।"

वधिक—"ज़रा कुछ और अँधेरा हो जाने दो। तुम्हें इस भिखारी के वेश में कोई भी न पहचान सकेगा। तुम्हें रास्ते के लिये धन की आवश्यकता होगी?"

कवि—"नहीं, मैं भीख माँगकर पेट भर लूँगा।"

वधिक ने आग बुझाकर रस्सी के साथ उस पुतले को कढ़ाई के ऊपर खींच लिया, और कुछ देर तेल चू जाने के लिये उसे वहीं पर रहने दिया। उसने पूछा—"तुम कहाँ जाओगे?"

कवि—"राजधानी के उत्तर में जो वन और पहाड़ हैं, कुछ दिनों वहीं छिपकर रहना चाहता हूँ। मेरी कुटी में एक अधूरा काव्य है, वहाँ उसे पूर्ण कर फिर तीर्थ-यात्रा में समस्त जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।"

वधिक ने रस्सी को एक खंभे की ओर सरकाकर पुतला भूमि पर गिरा दिया, और एक छूरे से रस्सी काट डाली।

कवि कहने लगा—"यह पुतला मेरा बीता हुआ जन्म है। अब इस दूसरे जन्म में मैं भिखारी पैदा हुआ हूँ। एक बात है वधिक, तुम अब इस पुतले का क्या करोगे?"

वधिक—"श्मशान निकट है। वहाँ ले जाकर मैं इसे फूँक दूँगा।"

कवि—"अब मेरे जाने का समय हो गया। मुझे विदा दो वधिक !"

"जरा देर ठहरो" कहकर वधिक दौड़ा हुआ अपने घर गया और एक वस्त्र में कुछ भोजन-सामग्री बाँधकर ले आया। वह नम्रता-पूर्वक कवि को देते हुए कहने लगा—"कवि ! लो, आज तुम्हारे भोजन का कहीं प्रबंध न होगा। इसलिये मेरी दी हुई इस भेंट को स्वीकार करो।"

कवि ने प्रेम-पूर्वक उसे अपनी झोली में रखकर कहा—"लाओ, यह मेरी पहली भीख है।"

वधिक ने स्नेहावेश में कवि को गले लगाया, आँसू भरकर उसके पैर छुए, और उसे विदा देकर कहा—"भगवान् तुम्हारे रक्षक हों, निर्भय जाओ कवि ! तुम्हें कोई न पहचान सकेगा।"

कवि ने झोली सम्हालकर वध-भूमि के बाहर पर रक्खा, वधिक को हाथ जोड़कर पथ छोड़ दिया, और वन के अंधकार में प्रवेश किया।

राजधानी के समीप कवि का एक द्रोही भी रहता था। वह भी कविता किया करता था। युद्ध-विदा की तैयारियों में कवि के वध का समाचार अभी बहुत प्रसिद्ध नहीं हुआ था। कवि-द्रोही भी इस समाचार से अनवगत था।

जिस समय महाराज कवि को नष्ट करने पर कटिबद्ध थे, ठीक उसी समय वह कवि का द्रोही भी किसी दूसरी जगह उसका अंत करने पर तुला हुआ था।

कवि का कुटीर राज-नगरी के बाहर था। वह लकड़ी तथा फूस के छप्पर के अतिरिक्त कुछ भी न था। कवि के भोजन का प्रबंध राजमहल में था। कवि केवल राजसभा में अपने श्लोक पढ़ता था। शेष समय का अधिकांश वह अपने एकांत कुटीर के समीपवर्ती नदी-तट और वनों में बिता देता था। उसी अवसर पर वह काव्य-रचना में निमग्न रहता था। संध्या होते ही वह उस कुटीर में जाकर आराम करता था। उसका जीवन नियमित था।

द्रोही ने कवि की झोपड़ी में आग लगा दी। उस मूर्ख ने न-जाने कितनी जल्दी यह निश्चित कर लिया कि कवि उस कुटीर के भीतर सो रहा है।

जिस समय महाराज ने कवि को तेल में भुन गया समझा, उस समय द्रोही ने उसे आग की लपटों में घिरा हुआ देखा। सत्य में न-जाने कहाँ पर कल्पना प्रवेश कर गई। उस समय वधिक ने कवि को विदा कर दिया था।

कवि की झोपड़ी जल उठी। कवि-द्रोही उसकी परिक्रमा करने लगा। इस उद्देश्य से कि यदि कवि उस जलते हुए कुटीर के बाहर निकलकर जीने की चेष्टा करेगा, तो उसे ज़बर्दस्ती आग में धक्का दे दिया जायगा। द्रोहांध कवि ने द्वार के बाहर पड़े हुए ताले को भी नहीं देखा। राजा की दंडाज्ञा ने आज कवि के नियमित जीवन में बाधा डाल दी थी। यही द्रोही का भ्रम बनकर उसे धोका दे गया।

कवि के जलते हुए गृह का प्रकाश किसी मनुष्य की दृष्टि को आकृष्ट न कर सका। क्रमशः सब कुछ जलने लगा। द्रोही ने कहा—"चलो, यह राजसभा का चिररिपु अब कहीं भी अपना मस्तक न उठा सकेगा।" कुछ देर बाद द्रोही विजय के दर्प और भविष्य की आशा को लेकर वहाँ से चला गया।

कुछ दूर जाकर कवि को फिर अपने अपूर्ण काव्य की चिंता हुई। वह अपने कुटीर की दिशा की ओर मुड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने देखा, सब कुछ भस्मसात् होकर पड़ा है। कवि मन-ही-मन कहने लगा—"चलो, यह भी अच्छा ही हुआ, राजा के वध-दंड की भलाई का प्रतिबिंब इसमें दिखाई देता है। यदि महाराज दंड न देते, तो मैं इस कुटीर में सोया हुआ कदाचित् अब तक जलकर भस्म हो गया होता।"

कवि ने अपने काव्य की चिंता कर कहा—"जिसे मैं अपूर्ण समझकर यहाँ आया था, वह कितनी जल्दी समाप्त हो गया!"

कवि ने फिर उधर देखा भी नहीं, और उत्तर की ओर जाने-वाले वन-मार्ग के किनारे-किनारे चला गया।

राजधानी से पाँच मील दूर, उसी पथ पर, नदी के किनारे, एक देव-मंदिर था। उसकी महिमा कुछ भी प्रसिद्ध नहीं थी। उस रास्ते से होकर जानेवाले यात्री उस मंदिर के देवता को हाथ जरूर जोड़ते थे, पर भेंट कोई भी नहीं चढ़ाता था। इसी से वहाँ कोई पुजारी न था।

यहीं तक पहुँचकर कवि थक गया था। इसके अतिरिक्त

वहाँ पर उसे नदी पार करनी थी। कवि ने रात में नदी करना उचित न समझा। उसने मंदिर के आश्रय में ही रात बितानी निश्चित की। वह नदी-तट पर गया। वहाँ वधिक के दिए भोजन से अपनी भूख शांत की। इसके बाद मंदिर के पास आकर सोने के लिये स्थान खोजने लगा। उसने मंदिर के भीतर प्रवेश किया, और द्वार ढककर सो गया। सोते ही गहरी नींद में अचेत हो गया। आधी रात में पूजा की सामग्री लेकर एक मनुष्य उस मंदिर में आया। उसने ज्यों ही मंदिर में प्रवेश करना चाहा, त्यों ही द्वार को भीतर से बंद पाकर चकित हो गया। उसने द्वार को खटखटाकर कहा—"मंदिर के भीतर कौन घुसा है, किसे मृत्यु घेर लाई है ?"

कवि चौंककर जागा, और पड़े-पड़े कहने लगा—"सताओ नहीं भाई ! मैं एक हारा-थका पथिक हूँ। यहाँ पड़ा सो रहा हूँ।"

मनुष्य ने और भी तेज होकर कहा—"अरे मृत्यु के निमंत्रित ! तुझे देव-मंदिर में सोकर उसे अपवित्र करने में लज्जा नहीं आई। मैं तुझे जीता न छोड़ूँगा। द्वार खोल।"

कवि ने द्वार खोल दिए। मनुष्य ने अपनी पूजा की सामग्री एक स्थान में रख दी, और झपटकर कवि की गर्दन पकड़कर कहा—"दुष्ट, तू नहीं जानता, मैं एक साधक हूँ। मैं आज एक महीने से बराबर हर आधी रात को यहाँ अपनी क्रियाएँ करने

आता हूँ। तूने आकर मेरे नियम में बाधा पहुँचाई है। यह तेरी अंतिम घड़ी है। बोल, किस तरह मरना चाहता है? तेरा गला घोट डालूँ या तेरी छाती में छुरी भोंक दूँ?"

कवि ने स्वाभाविक स्वर में कहा—"जो भी करते हो, सब अच्छे ही के लिये है।"

इस उदासीन उत्तर को पाकर साधक का क्रोध उसी क्षण शीतल पड़ गया। वह कवि की गर्दन छोड़कर विचारने लगा, यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। कवि नीरव हो रहा। साधक ने पूछा—"तुम कौन हो जी?"

कवि—"पहले कुछ और था, अब एक भिखारी हूँ।"

साधक—"तुम्हारे माता-पिता हैं।"

कवि—"कोई भी नहीं हैं।"

साधक—"जो कुछ भी हो, मैं तुम्हारी उक्ति से प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें एक वस्तु उपहार में दूँगा। उसे पाकर फिर तुम्हें भीख माँगने की आवश्यकता न रहेगी।"

कवि—"अच्छी बात है।"

साधक मंदिर के बाहर वन में जाकर एक जड़ी खोज लाया, और कवि को देकर कहने लगा—"लो, यह एक जड़ी है। तुम्हारी पहचान के लिये मैं इसे पत्तों-सहित खोद लाया हूँ। यह नेत्रों के सब प्रकार के रोगों को ही नष्ट नहीं करती, प्रत्युत जरा-जीर्ण आँखों के अंधेपन को छोड़कर अन्य कई कारणों के अंधे भी इससे अच्छे हो जाते हैं।"

कवि ने पत्तों-सहित वह बूटी अपनी झोली में रख ली। साधक ने फिर कहा—"अब भीख न माँगना, इसके प्रभाव से तुम्हें रोटी मिल जायगी। अधिक का लालच न करना, आदर की उपेक्षा करना। मैं अपनी पूजा में बैठता हूँ, तुम्हें नींद लगी हो, तो इस चबूतरे पर सो रहो।"

साधक ने मंदिर में प्रवेश कर द्वार बंद कर दिए, और अपनी पूजा में बैठ गया। कवि बाहर चबूतरे पर सो गया।

सूर्योदय के समय जब कवि की नींद खुली, तो उसने मंदिर का द्वार मुक्त पाया। साधक रात ही में न-जाने कहाँ चला गया था। इसके बाद कवि बड़े आराम के साथ शौच-स्नान से निवृत्त हुआ, और फिर उसने कुछ देर मंदिर में बैठकर ईश्वर का चिंतन किया।

दिन चढ़ने लगा था। कवि ने नदी को पारकर अपना रास्ता लिया।

चलते-चलते वह राजधानी से प्रायः दस मील पर आ गया। उसने अपने को अब अज्ञात और अपरिचित वन-प्रांत में पाया। पर्वत-प्रदेश के आरंभ होने के कारण उसकी चाल धीमी पड़ती गई। उसने आज सुबह से कुछ भी खाया न था, यह भी उसमें सहायक हुआ।

स्थान-स्थान पर विश्राम करते हुए कवि दिन के ढलते समय राजधानी से लगभग पंद्रहवें मील पर पहुँचा। उसे अब

भूख लग गई थी। किसी पथिक को पाकर उससे निकटतम गाँव का मार्ग पूछने के उद्देश्य से वहीं पर बैठ गया।

उसी समय कुछ दूर पर अचानक उसने एक बूढ़े मनुष्य को एक झाड़ी की ओट में अदृश्य होते देखा। कवि द्रुत पद से वहाँ पर आया, पर वहाँ किसी को न देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसे सूक्ष्म रीति से निरीक्षण करने से मनुष्य के पदांकों से उपजा हुआ भूमि पर एक पथ दिखाई दिया। वह घूम-फिरकर एक गुफा के भीतर चला गया था। कवि ने निःशंक उसके भीतर प्रवेश किया, और वहाँ मनुष्य का शब्द सुनकर उसे बड़ा धीरज हुआ।

उसने अभी गुफा में प्रवेश करना उचित न समझा। वह चुपचाप उसके द्वार के समीप गया। उसे छिपने के लिये द्वार की ओट में प्रशस्त अंधकार प्राप्त हुआ। उसने नीरव होकर एक छिद्र की राह गुफा के भीतर देखना आरंभ किया।

उसने देखा, गुफा में क्षीण प्रकाश था। बूढ़ा जंगल से ईंधन बटोरकर ले गया था। उसने आकर चूल्हा जला लिया था। पास ही बैठी हुई एक लड़की आटा गूँद रही थी। पिता ने चूल्हे पर तवा रक्खा, और उसके गरम होने पर कहा—"ला बेटी, दे। आटा गुँद गया होगा।"

लड़की ने आटे की थाली वृद्ध पिता की ओर सरका दी, और हाथ धोए।

कवि लड़की के मुख को साफ-साफ न देख सका। वह द्वार

से प्रवेश करनेवाले प्रकाश-पुंज की सीमा के बाहर थी। सामने उनकी रसोई का कोना था। उसके पिता ने वहाँ जो चूल्हा जला रक्खा था, उसकी ज्योति भी बालिका के मुख को स्पष्ट नहीं कर सकती थी।

पिता ने कहा—"बरतन में कुछ घी होगा, ला तो बेटी!"

बेटी बड़े धीरज से उठी। उसने धीरे-धीरे अपना दाहना हाथ आगे को बढ़ाया, फिर बड़ी सावधानी से अपना बायाँ पैर आगे किया। इसी क्रम की पुनरावृत्ति करती हुई वह चली। दाहनी ओर भूमि की प्राचीर में खोदकर एक आला बनाया गया था। उसमें कुछ बरतन रक्खे हुए थे। बालिका उनमें टटोलने लगी। कवि मन-ही-मन कहने लगा—"क्या यह अंधी है?" इसके बाद उसने झोली से उस बूटी को निकालकर उसके पत्ते पहचाने।

बालिका ने बरतन उठाकर पिता को दे दिया। वह फिर अपनी पहली जगह पर बैठ गई, और कहने लगी—"पिता! आप न-जाने मुझे रोटियाँ पकाने से क्यों रोक देते हैं? उसकी प्रत्येक क्रिया मेरे मन में अंकित है। मैं बड़ी आसानी से उन्हें पका लूँगी। आप एक दिन परीक्षा तो करें।"

पिता—"नहीं मेरी जन्मांध बेटी! तुझे जरा भी तो नहीं दिखाई देता। हाथ-पैर जलाकर क्या उनसे भी हीन होना चाहती है?"

अंधी—"मेरे सामने यही सबसे बड़ा प्रश्न है। 'देखना',

आप न-जाने देखना किसे कहते हैं। कोई भी काम जो आप मेरी उँगलियों को मालूम करा देते हैं, क्या मैं उसे फिर ठीक-ठीक नहीं कर सकती ? अपने इस घर के भीतर कौन-सी वस्तु कहाँ पर है, यह सब आपने मुझे ठीक-ठीक बताया है। यदि आप कभी उनके स्थान परिवर्तित न करेंगे, तो मुझसे भी कभी भूल न होगी। हाँ, इस गुफा के बाहर क्या है, उसे नहीं जानती। आप कहते हैं, तेज और तम से भरा हुआ एक संसार है। मैं अंधकार का अर्थ भी नहीं समझ सकती।"

पिता—"यह भगवान् का कोप है बेटी! इसका कुछ भाग मुझे और अधिकांश तुझे सहन करना है।"

अंधी—"हाँ, आप कहते हैं, भगवान् आपको भी नहीं दिखाई देते, क्या आप उन्हें अपनी उँगलियों से मालूम भी नहीं कर सकते ?"

पिता ने उदास भाव से कहा—"अब मैं बूढ़ा हो चला हूँ। एक दिन मेरे पैर इतने दुर्बल हो जायँगे कि मैं इस गुफा के बाहर जाकर कहीं से भीख भी न ला सकूँगा। इसके पश्चात् फिर एक दिन ऐसा आवेगा कि तुम्हारा यह बूढ़ा पिता मर जायगा। उस दिन वह तुम्हारे प्रत्येक संबोधन के लिये मूक हो जायगा। हा! तब तुम्हारा क्या होगा ? तेरे अंधेपन की त्रुटि को दूर करने के लिये मैंने तुझे शास्त्र की मौखिक शिक्षा भी दी, पर उससे तेरी कमी पूरी नहीं हुई। तेरे साथ विवाह करने के लिये मुझे कोई भी उपयुक्त मनुष्य नहीं मिलेगा।"

अंधी—"जाने भी दीजिए। आपने कई बार इस स्वार्थ मनुष्य की कथाएँ मुझे सुनाई हैं। मेरी गुफा में वह कभी नहीं आया, उसे आने भी न दीजिएगा।"

कवि बाहर से मुस्किराकर मन में कहने लगा—"पर एक मनुष्य अब आ गया है। उसके पास एक ऐसी जड़ी है, जिसके लिये उसे इस गुफा से संबद्ध होना पड़ेगा। इसके सिवा यह उस राजा के अपराधी के छिपकर रहने के लिये कितना उपयुक्त स्थान है!"

पिता ने कहा—"एक लोटे में जल दे बेटी!"

अंधी टटोलते हुए पानी के घड़े की ओर लोटा लेकर बढ़ी, पर उसे रिक्त पाकर कहने लगी—"पानी की बूँद नहीं है पिता!"

"रहने दे बेटी! कोई चिंता नहीं, अभी ले आऊँगा।"

"मैं स्वयं ले आती हूँ पिता! आप मुझे मेरी उँगली पकड़कर कई बार नदी-तट पर ले गए हैं। मेरे मन में उसका भी एक चित्र बना हुआ है। आज मुझे जल ले आने दीजिए, फिर नित्य मैं ही जाऊँगी।"

पिता ने भय दिखाकर तीव्र स्वर में कहा—"नहीं, मार्ग में कितनी ही ठोकरें और खाइयाँ हैं, अनेक कँटीली झाड़ियाँ तथा तीक्ष्ण शिलाएँ हैं। तुम नहीं जा सकती हो, ईश्वर ने तुम्हें अंधी पैदा किया है।"

अंधी घड़े की ओर बढ़ रही थी। पिता की इस उक्ति को

सुनते ही बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़ी, और हाथ-पैर पीटने लगी।

पिता ने जल्दी से हाथ की रोटी अलग रखकर तवे और चूल्हे की रोटियाँ निकाल डालीं, और उसकी रक्षा करने को बढ़ते हुए कहने लगे—"निर्दय विधाता ! एक रोग इसके पीछे यह लगा है। आज दो महीने बाद ही इसे उसका फिर दौरा हुआ है।"

पिता उसे होश में लाने के लिये जल ढूँढ़ने लगे। जल का कहीं पता ही न था, इसी पर तो सारी बात थी। अंधी प्रलाप में आकर कहने लगी—"वह सुवर्ण से निर्मित और रत्नों से जटित राजमहल है। कहते हैं, दिन में उस पर सूर्य की कोटि-कोटि किरणें पड़ती हैं, रात को चंद्रमा और अनंत तारिकाएँ उसे प्रकाशित करते हैं। मैं उसे न देख सकूँगी क्या ? हा भगवान् ! मैं अंधकार के सागर की मछली हूँ, प्रकाश में तड़प-तड़पकर मर जाऊँगी।"

इसके बाद अंधी अपना एक हाथ नियमित अवधि से भूमि पर पीटने लगी, मानो वह दुर्दैव के किसी विषम गीत में ताल देने लगी। पिता ने उसका वह हाथ पकड़ लिया। अंधी ने फिर प्रलाप आरंभ किया—"राजमहल ! राजमहल !! क्या तुम एक बार भी मुझे उसके पास तक न ले चलोगे। लो, मेरी उँगली पकड़ो, मुझे वहाँ आज ही जरूर जाना है। महारानी

ने मुझे निमंत्रित किया है। आज उसके यहाँ उत्सव है, मैं उसे गीत सुनाऊँगी।"

पिता मन-ही-मन कहने लगे—"यह जब आवेश में आती है, तब प्रलाप करती है। जब प्रलाप करती है, तभी उसमें राजमहल का उल्लेख रहता है। कुछ भी तो समझ में नहीं आता। कदाचित् इस समय इसके पूर्वजन्म की स्मृति जाग उठती हो, या इसी जन्म में इसका राजभवन से कोई संबंध रहा हो? मैं नहीं जानता, इस कन्या के माता-पिता कौन हैं? यह बारह वर्ष की बात है। उस दिन मैंने इसे शकुंतला की भाँति बन-मार्ग में परित्यक्त पड़ा पाया था। न-जाने इसकी कौन-सी पाषाण-हृदया माता थी, जो इसे जन्मांध समझकर हिंसक जीवों के लिये वन में छोड़ गई। इस संतान-हीन के हृदय में इसे देखकर ममत्व उपजा, इसके अंधेपन को देखकर इस पर और भी दया हुई। इसे पाल-पोसकर बड़ा किया। इसने अपनी सरल वाणी से मुझे पिता का संबोधन देकर इस संसार में जकड़ दिया है। इसे निराश न करने के लिये मैंने कभी इसे इसका असली हाल नहीं दिया। अब जान पड़ता है, यह कुछ देर हिले-डुलेगी नहीं। चलूँ, शीघ्रता से जल भर लाऊँ। उससे उसकी मूर्च्छा तुरंत भंग हो जाती है।"

पिता को द्वार की ओर आता देखकर कवि एक तरफ जाकर छिप गया। पिता ने जब जल के लिये प्रस्थान किया, तो वह फिर अपनी पहली जगह में आकर खड़ा हो गया।

अंधी ने फिर प्रलाप करना आरंभ किया, और लोटती हुई चूल्हे के निकट चली गई। वह अपना हाथ आग में देना ही चाहती थी कि कवि ने गुफा में प्रवेश कर उसका हाथ पकड़ लिया, और उसे एक तरफ़ ले जाकर उसका सिर अपनी गोद में रक्खा। अंधी फिर बेहोशी में बकने लगी—"महाराज से जाकर कह दो, मैं अंधी हूँ। उनके हाथी, घोड़े और रथ मुझे पथ में कुचल देंगे। मैं राजभवन में नहीं आ सकती।"

कवि ने अपने उत्तरीय से उसे हवा पहुँचाई। सौभाग्य-वश उसे चेतना प्राप्त होने लगी। उसने दीर्घ साँस लेकर कहा—"ओह! बड़ी प्यास है!"

कवि ने उत्तर दिया—"पिता जल लेने गए हैं, आते ही होंगे।"

अंधी चौंककर खड़ी हुई, और दूर हटकर कहने लगी—"मेरे पिता की दया में अधिकार पानेवाले तुम कौन हो? तुम इतनी ही देर में कहाँ से प्रकट हो गए? पिता ने कभी तुम्हारा उल्लेख नहीं किया। क्या तुमने ही मेरा सिर अपनी गोद में रखकर मेरे माथे पर हाथ रक्खा था? तुम्हारा स्पर्श बड़ा शांतिदायक प्रतीत हुआ था। तुम्हारी वाणी बड़ी मधुर है। तुम कौन हो?"

कवि—"मैं एक मनुष्य हूँ।"

"पर मैंने मनुष्य से घृणा करना सीखा है।" कहती हुई अंधी कवि के हाथ और मुख को टटोलकर संतुष्ट प्रतीत हुई उसने फिर कहा—"तुम तो मेरे ही समान हो, तुम मनुष्य

नहीं हो। मनुष्य बड़ा स्वार्थी होता है। उसके नख लंबे और दाँत नुकीले होते हैं। वह हमारी गुफा में नहीं आ सकता।"

कवि—"यदि तुम मुझे मनुष्य नहीं समझती हो, तो एक भिखारी समझो।"

अंधी—"भिखारी? यह नाम मुझे रुचिकर है। तुम भीख माँगकर ला सकते हो? तुम्हें ग्राम और बस्ती के पथ ज्ञात हैं?"

कवि—"हाँ।"

अंधी—"तब तुम इसी गुफा में रहो भिखारी! मैं तुम्हें कहीं भी न जाने दूँगी। मेरे पिता बूढ़े हो गए हैं। तुम भीख माँगकर लाओगे, मैं रसोई तैयार करूँगी। मेरे पिता बड़े दयालु हैं। क्या उनकी सेवा करने में तुम मुझे मदद न दोगे?"

पिता जल लेकर लौट आए। उन्होंने पुत्री का अंतिम वाक्या सुन लिया था। गुफा के भीतर एक नवीन अतिथि को पाकर कुछ भय और कुछ विस्मय हुआ। उन्होंने कवि से पूछा—"तुम यहाँ कहाँ से आ गए?"

अंधी ने बीचाँही में कहा—"इन्हें यहीं रहने दो पिता!"

कवि ने कहा—"मैं एक भिखारी हूँ, आश्रय की खोज में भटकता हुआ इधर चला आया हूँ।"

अंधी—"तुम्हें मेरी बात स्वीकार है भिखारी?"

कवि—"हाँ।"

पिता ने आनंद से गद्गद होकर मन में विचार किया, यदि यह इसके साथ विवाह करने के लिये तैयार हो जाता,

तो मेरी मृत्यु के समय की सारी चिंताएँ दूर हो जातीं। उन्होंने कहा—"तुम्हें इस गुफा का आश्रय पसंद होगा ?"

कवि—"निस्संदेह ! यह अच्छा है, बहुत अच्छा है, इससे अच्छा और हो क्या सकता है ?"

पिता—"तो रहो अतिथि ! मेरे होकर रहो, मेरी गुफा के होकर रहो। मैं कई दिनों से तुम्हारी खोज में था। आज परमेश्वर ने तुम्हें मेरे पास भेज दिया।"

इसके बाद उन्होंने लड़की से कहा—"तू जाग गई बेटी !"

अंधी—"हाँ, अभी थोड़ी-सी देर हुई है। मुझे प्यास लगी है।"

पिता फिर रोटी बनाने लगे थे। उन्होंने अंधी से कहा—"रोटी खाकर जल पीना।" इसके बाद उन्होंने कवि से कहा—"तुम भी थके और भूखे होगे, आओ भोजन करो।"

कवि भूखा था। बिना किसी संकोच के वह भोजन करने बैठ गया।

कवि के भाग जाने के दूसरे दिन रात को, जब राजा चिंतित होकर अपने भवन में बैठे हुए थे, राजकुमार ने युद्ध-भूमि से लौटकर उन्हें प्रणाम किया।

राजा प्रसन्न होकर तुरंत उठ खड़े हुए, और कहने लगे—"तुम युद्ध से लौट आए, आनंद है। शत्रु के क्या समाचार हैं ? आश्चर्य है, तुमने कोई खबर भी नहीं भेजी।"

राजकुमार—"हाँ महाराज, आपको उससे भी अधिक आश्चर्य अभी और होगा। शत्रु पर मैंने विजय पाई है।

उसी विजय-प्राप्ति से मेरे मन में और भी बड़ी विजय पाने की लालसा उपजी है।"

महाराज कुछ न समझे। राजकुमार ने साथ आए हुए छिपे सैनिकों को पूर्व-निश्चित संकेत दिया। उन्होंने आकर महाराज को बंदी कर लिया।

कुछ क्षण तक अवाक् रहने पर महाराज ने बड़ी कठिनता से कहा—"हा! भगवान्, क्या मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ? मुझसे छिपाकर तुम कब से इस षड्यंत्र की रचना कर रहे थे?"

राजकुमार—"इसमें कौन-सा षड्यंत्र है महाराज! अगर मैं शत्रु को पराजित न करता, तो आज मेरे स्थान में वही आपको इस प्रकार बंदी करता। शत्रु के कारागार से पुत्र का बंधन कहीं सुखकर होगा। आपके राज्य की गड़बड़ व्यवस्था के कारण सीमा-प्रांतों पर सदैव नए-नए शत्रुगण सिर उठाते रहते हैं। परमेश्वर ने मुझे आदेश दिया है कि राज्य की बागडोर मैं अपने हाथ में लूँ! उसके दंड को चुपचाप सहन कीजिए।"

इसी समय गड़बड़ सुनकर रानी ने वहाँ प्रवेश कर सैनिकों की ओर रोष-भरी दृष्टि से देखकर कहा—"सैनिकों!"

राजकुमार ने कहा—"चुप रहो मा! वह मेरे वश में हैं।"

रानी महाराज के बंधन छुड़ाने को उस ओर बढ़ती हुई कहने लगी—"चांडाल! तेरा सर्वनाश करने के लिये तेरे मन में कौन-सा पाप जन्मा है?"

"ले आओ सैनिक! महाराज मैं हूँ, इन्हें कारागार की ओर ले चलो।" कहकर राजकुमार ने रानी को रोक लिया।

रानी विह्वल होकर कहने लगी—"आज्ञा दीजिए महाराज! आप इस तरह चुप क्यों खड़े हैं? कुपुत्र की क्या ममता?"

राजकुमार—"क्या राजभवन की दीवारें आज्ञा सुनेंगी? राज्य की तमाम सेना, जिसे मैं अपने साथ ले गया था और जो मेरे पास बाद को भेजी गई, उन सबने अपनी-अपनी तलवारें छूकर मुझे सहायता पहुँचाने की शपथें खाई हैं।"

सैनिक महाराज को प्राचीन दुर्ग की ओर ले गए। मंत्री उनसे पहले ही वहाँ बंदी कर लिया गया था।

राजकुमार ने माता को धीरज बँधाते हुए कहा—"मेरे मन में राज्य करने की इच्छा हुई है मा! मेरे सुख में बाधा न दो।"

रानी ने क्रुद्ध और विवश होकर कहा—"जिसके आश्रय में तू पला है, आज तूने उस वृक्ष की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाना आरंभ किया है। याद रख, वह तुझे लेकर ही भूमि पर गिरेगा। चांडाल, तूने पुत्र के नाम को अपवित्र किया है। तेरे मन में राज्य ही करना है, तो क्या इसके लिये यह जरूरी है कि तू पिता को बंदी करे?"

राजकुमार—"हाँ, जरूरी है। तू स्त्री है, तुझे राजनीति की चालों का भेद ज्ञात नहीं।"

रानी ने रोते हुए कहा—"मुझे भी बंदी कर वहीं पहुँचा।"

राजकुमार—"तुझे बंदी करने की आवश्यकता क्या? तू कर क्या सकती है? देख मा, तू व्यार्थ ही व्यग्र हो रही है। शत्रु वास्तव में अच्छी तरह पराजित नहीं हुआ। उसी को जाल में फँसाने के लिये मैंने यह एक नई राजनीतिक चाल चली है।"

रानी—"मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं रहा। जो पिता को बंदी कर सकता है, वह माता के सामने प्रत्येक झूठ की सृष्टि कर देगा।"

राजकुमार—"चिंता छोड़ो मा! महाराज का बाल भी बाँका न होगा। तुम्हारे किसी सुख में कोई भी बाधा नहीं पहुँचाई जायगी। शांत रहो। दो-चार दिन में तुम सब बातें स्पष्ट समझ जाओगी। इस समय मुझे जाने दो, राज्य के अनेक कर्मचारी मेरी बाट देखते होंगे।"

राजकुमार चला गया। रानी ने गहरी साँस लेकर कहा—"इस सर्प को छाती का दूध पिलाया, अच्छा नहीं किया।"

वह उदास होकर भूमि पर गिर पड़ी। दासियों ने आकर उसे सँभाला। उसने भोजन भी नहीं किया। रात-भर महा-राज को छुड़ाने की युक्तियाँ सोचने लगी। अंत में उसे एक ही उपाय दिखाई दिया, उसने उसी को निश्चित किया।

दूसरे दिन मध्याह्न समय राजकुमार माता के पास आकर कहने लगा—"मैंने पिता के लिये प्रत्येक सुख का प्रबंध किया है। तुम वहाँ चलकर सब कुछ अपनी आँखों देख सकती हो।"

रानी के मन में दूसरा ही विचार परिपक्व हो रहा था। उसने मन के भाव को छिपाकर कहा—"अभी नहीं, संध्या-समय जाऊँगी।"

राजकुमार—"तुम जब चाहो, तब महाराज से मिल सकती हो, पर इसके लिये मुझे सदैव साथ लेना होगा। कारागार की ताली यह है। इसकी रक्षा के लिये मैंने इसे अपने गले में धारण किया है।"

रानी ने ताली पर सतृष्ण दृष्टि निक्षेप की।

राजकुमार ने कहा—"मैं तेज धूप में चला आ रहा हूँ मा! बड़ी प्यास लगी है।"

रानी—"मैं स्वयं जाकर तुम्हारे लिये मीठी शर्बत बना लाती हूँ।"

रानी उठकर चली गई।

राजकुमार मन में कहने लगा—"यह इच्छा मेरे मन में न-जाने कैसे उत्पन्न हो गई? यह कहाँ ले जायगी, उसकी सीमा भी नहीं दिखाई देती। जो कुछ भी हो, राज्य के अन्य कर्मचारियों ने भी इस नवीन और युवक राजा की आज्ञा के सामने अपना माथा झुकाया है।"

रानी ने आकर राजकुमार के सामने कुछ फल और मिठाई के साथ सुगंधित शर्बत का पात्र रक्खा। उसने फल इत्यादि का स्पर्श भी नहीं किया, परंतु शर्बत का पात्र एक ही साँस में रिक्त कर दिया। शर्बत पीने के बाद राजकुमार को माथा घूमता

हुआ ज्ञात होने लगा। उसने माता से कहा—"मेरे सिर में चक्कर आने लगा है मा!"

रानी ने उत्तर दिया—"तुमने धूप में बड़ा परिश्रम किया है, कुछ देर शय्या पर आराम करो।"

राजकुमार ने घबराकर कहा—"मेरे नेत्रों के आगे अँधेरा छाने लगा है। तूने शर्बत में क्या कुछ मिलाकर मुझे पिला दिया?"

रानी—"संसार से बिदा होनेवाले प्राणी! मैं तुमसे सच ही कहूँगी।"

राजकुमार—"तू विष मिलाकर ले आई?"

रानी—"हाँ-हाँ, मैं विष मिलाकर ले आई।"

राजकुमार—"सर्पिणी! संतान को निगलने के लिये?"

रानी—"नहीं, तू हमारी संतान ही नहीं है, यह दूसरा अप्रकट सत्य सुन।"

राजकुमार के पैर लड़खड़ाने लगे थे। उसने पूछा—"फिर मेरे माता-पिता कौन हैं?"

रानी—"मैं नहीं जानती। जब तू एक-दो दिन का था, तब धाय तुझे न-जाने कहाँ से ले आई। उसने तुझे मेरी गोद में रख दिया, और मैं पुत्रवती प्रसिद्ध हुई। तेरे माता-पिता के परिचय को लेकर धाय न-जाने कब की मर चुकी।"

राजकुमार की वाणी टूटने लगी थी। "पा—पीय—सी!

और घाति—नी ! मैं ते—रा व—ध करूँ—गा !" कहकर उसने म्यान से तलवार निकालनी चाही।

रानी—"तुझसे अब कुछ भी न होगा। तेरी शक्ति क्षण-क्षण में क्षीण होती जा रही है। देख, देख, हलाहल विष तेरे समस्त अंग में फैल गया। तू अब भूमि पर गिरा !"

सचमुच तलवार की मूठ पर हाथ रखने से पहले ही राज-कुमार भूमि पर गिर पड़ा, और बेहोश हो गया।

रानी ने उसके गले से कारागार की ताली निकाली, और उसे शय्या पर सुलाकर उसकी देह ढकते हुए कहा—"जीवन-पर्यंत तुम्हारा यह भेद अप्रकट रखकर तुम्हें राजकुमार बनाए रखने की इच्छा थी। राजसिंहासन तुम्हारे सिवा और किसका था ? पर तुम्हारी अधीरता ने तुम्हें उसी पथ की धूल में मिला दिया, जहाँ से तुम उत्पन्न हुए थे। सो जा, संसार के अभागे प्राणी ! इस निद्रा का जागृति से संबंध न होगा।"

इसके बाद रानी ने द्वार खोलकर दासी को बुलाया, और कहा—"जा, सिंह-द्वार पर से किसी प्रहरी को बुला ला। कहना, राजकुमार ने आज्ञा दी है।"

प्रहरी ने आकर रानी को प्रणाम किया। रानी ने उससे कहा—"प्रहरी ! राजकुमार एकाएक बीमार हो गए हैं। उन्होंने इसी समय महाराज को मुक्त करने की आज्ञा दी है। यह कारागार की ताली है। मैं स्वयं महाराज को मुक्त करने जाऊँगी। प्रहरी ! तुम जाकर कारागार के सब रक्षकों पर इस

समाचार को प्रकट करो। वे सब हट जायँ, और मेरे लिए मार्ग छोड़ दें। दासी! तू मेरे साथ चलेगी।"

प्रहरी "जो आज्ञा" कहकर चला गया। उसके बाद रानी ने राजकुमार की हालत देखी। वह बिलकुल अचेत पड़ा था। फिर रानी ने दासी को बुलाकर कहा—"राजकुमार की हालत बहुत खराब है, हमें शीघ्रता करनी चाहिए, चल।"

दासी के साथ रानी ने भी प्राचीन दुर्ग की ओर प्रस्थान किया।

रानी के जाने के कुछ देर बाद राजकुमार जाग उठा, और बकने लगा। विष के प्रभाव से वह मरा नहीं, पर उसकी स्मृति और विवेक नष्टप्राय हो चुके थे। वह कक्ष के चारों ओर फिर-फिरकर कहने लगा—"मा! तूने पथ के भिखारी को गोद में उठाकर विष दे दिया। अच्छा किया। मुझे राज्य की इच्छा नहीं है। मैं विष भी नहीं पिऊँगा।"

इसके बाद वह गाने लगा, फिर हँसता रहा। अचानक उसे स्मृति प्राप्त हुई। वह गले में कारागार की ताली खोजने लगा, वह नहीं मिली। वह कहने लगा—"मैं कारागार के द्वार को खुला ही छोड़ आया था। राजा मुक्त हो गए, अच्छी बात है। चलूँ, मैं भी जाकर उनसे क्षमा माँग लूँ।"

इसके बाद राजकुमार चुपचाप गिरते-पड़ते कारागार की ओर चला गया।

कवि ने उस गुफा में प्रवेश करने की प्रथम रात्रि बड़ी देर

तक पिता के साथ बातें करने में बिताई। उसने उन्हें अपने जीवन की सच्ची-सच्ची कथा सुनाकर कहा—"इस प्रकार राजा के दंड-भय से मैं छिपने के लिये आपकी शरण में आया हूँ।"

पिता ने कहा—"मैं अपने जीवन-पर्यंत इस गुफा में तुम्हें छिपाकर रक्खूँगा। इस स्थान का परिचय बहुत कम लोगों को है। जिन्हें है, वे इसे भूतों से आबद्ध समझकर दिन में भी इसके पास नहीं फटकते।"

अंधी चुपचाप उनकी बातें सुनती थी। उसे इस बात को सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह अतिथि बहुत दिन तक राजा की सभा में कवि रह चुका है। अंधी को राजसी जीवन से बड़ा प्रेम था।

कवि ने पिता का आदि वृत्त जानने की लालसा प्रकट न की। उन्होंने स्वयं इतना ही कहा कि उनके उस लड़की के अतिरिक्त और कोई नहीं। अंतिम दिनों में प्रभु के चिंतन के लिये वह उस गुफा को सहायक समझते हैं। कवि ने पिता से साधक की दी हुई जड़ी का कुछ भी उल्लेख नहीं किया।

दूसरे दिन सुबह पिता स्नानादि से निवृत्त होकर भिक्षा माँगने के लिये चले गए। जाते समय कवि से बाहर न निकलने और सावधानी से रहने के लिये कह गए।

अंधी के सुख का आज ठिकाना न था। पिता की अनुपस्थिति में भी अब उसे बातें करने के लिये एक और मनुष्य मिल गया था। वह बड़ी वाचाल थी। वह कवि के पास चिर-

परिचित-सी होकर बैठ गई, और उसने कुछ ही देर में उसके राजा-रानी, राजधानी, राजमहल और राजसभा के संबंध में सैकड़ों बातें पूछ डालीं। कवि को भी उसकी बातें बड़ी मधुर प्रतीत हुईं।

अंधी ने कहा—"तुम कविता से राजा का मन बहलाते थे?"

कवि—"हाँ।"

अंधी—"मुझे भी पिता ने अनेक छंद कंठस्थ कराए हैं। तुम अब यहीं रहोगे, इससे मुझे कुछ भी शीघ्रता नहीं है। मैं धीरे-धीरे वह सब कुछ तुम्हें सुनाऊँगी। मुझे दो-चार बार के दोहराने से ही खूब अच्छी तरह याद हो जाता है, तुम्हें विश्वास न हो, तो तुम अपने काव्य से इसकी परीक्षा ले सकते हो।"

कवि ने कहा—"अच्छा, लो याद करो।"

उसके तीन-चार बार दोहराने पर अंधी कहने लगी—"अच्छा, लो सुनो, याद हो गया।"

कवि ने कहा—"सुनाओ।"

अंधी ने उस कविता को गीत में बदलकर सुनाया—

"सघन भई रजनी, तम छायो,
बिसरयो पथ, पथिक हू हिरायो।
दीप जला, दीप जला।

× × ×

उलझ काँटों में न धीरज त्याग कर,
दुःख को सुख मानकर, अनुराग कर।
दीप जला, दीप जला।
घन गिरि घुमड़ि घोर घहरायो,
सघन भई रजनी, तम छायो।

× × ×

नाथ भूले-भ्रमित की रक्षा करें,
कर्म-कौशल ज्ञान दे संशय हरें।
दीप जला, दीप जला।
छिप्यो भेद, कछु हाथ न आयो,
सघन भई रजनी, तम छायो।"

कवि ने मूक-मुग्ध होकर अंधी का गीत सुना, और अपने मन में विचार किया—"मेरे काव्य से इसका गीत मधुरतर है।" उसने अंधी से कहा—"नेत्र-विहीने! तेरी आँखों का प्रकाश तेरे गीत के पथ से चमकता है।"

अंधी ने हँसकर कहा—"कदाचित् इसीलिये पिता मुझे कभी गाने नहीं देते। वह मुझे नाना प्रकार के भय दिखाकर कहते हैं, गीत को सुनकर कोई पशु या मनुष्य यहाँ चला आवेगा। इस समय भी मेरा स्वर उनके भय से दबा हुआ है। वह जब गुफा के बाहर जाते हैं, तभी मैं कुछ गुनगुनाती हूँ। कवि! क्या तुम मुझे कभी राजमहल में न ले चलोगे? मैं

तुम्हारे समस्त काव्य को गीत में बदलकर महाराज को सुना-ऊँगी, और निस्संदेह उन्हें प्रसन्न कर तुम्हारे लिये क्षमा माँग लूँगी। कवि ! तुम मेरी आँखें अच्छी न कर दोगे ?"

कवि चुपचाप वहाँ से उठकर अपनी झोली खोजने लगा। अंधी को उसका जाना ज्ञात नहीं हुआ। उसने कवि को वहीं पर उपस्थित समझकर फिर अपना प्रश्न दुहराया। फिर भी उत्तर न पाकर उसने अपना हाथ बढ़ाया, और कवि को टटोला। कवि को वहाँ अनुपस्थित जानकर वह हँसते हुए कहने लगी—"ठग और छली कवि ! गुफा के बाहर तुम जा नहीं सकते, अंदर जहाँ भी तुम छिपोगे, मैं तुम्हें खोज ही लूँगी।" अंधी उसे एक कोने में खोजती, तो कवि दबे पैर दूसरे कोने में चला जाता था। कई बार इस तरह धोका खाकर अंत में अंधी ने उसे पकड़ लिया। उसने फिर वही प्रश्न किया—"कवि ! तुम मेरी आँखें अच्छी न कर दोगे ? फिर मैं अकेली ही राजमहल को चली जा सकूँगी।"

कवि ने झोली से वह बूटी निकाली, कुछ विचार कर उसे फिर वहीं रख दिया, और कहा—"नहीं देवि ! मेरे पास ऐसा कोई साधन नहीं।"

पिता भीख लेकर आ पहुँचे। संध्या-समय कवि ने स्वयं भीख माँगने को जाने की इच्छा प्रकट की। पिता ने उसका विरोध किया। कवि ने कहा—"मेरा वेश बदला हुआ है, फिर राजधानी से दूर इन ग्रामों में मुझे कौन पहचानता है !"

पिता ने प्रत्युत्तर में कहा—"अभी धीरज रक्खो। कुछ दिन और बीत जाने दो। अभी मेरे हाथ-पैरों में पर्याप्त शक्ति है।"

रानी ने दासी को कारागार के द्वार पर खड़ाकर कहा—"दासी! तू यहाँ पर खड़ी रहकर इधर किसी को न आने देना।"

रानी ने कारागार खोलकर उसके भीतर प्रवेश किया, और द्वार बंद कर दिया।

महाराज ने कहा—"कौन?"

रानी—"दासी है, आपको मुक्त करने आई है।"

"राजकुमार की सम्मति से?"

"नहीं, उसे मिटाकर। मैंने उसे विष दे दिया।"

महाराज ने सिर पीटकर कहा—"हा! तुमने यह क्या किया? मेरी मुक्ति के लिये राजकुमार को मार डाला। क्या मैं इसे न कर सकता था?"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"क्यों?"

"क्योंकि आप इस भेद को नहीं जान सके कि वह हमारा पुत्र न था।"

"हमारा पुत्र नहीं था? कौन, राजकुमार?"

"नहीं, वह हमारा पुत्र नहीं था। सौत के डर से मैंने अपनी नव-प्रसूता बालिका को धाय के लाए हुए एक अज्ञात

कुल-शील बालक से बदल लिया। वही बढ़कर राजकुम कहलाया। मेरी सींची हुई बेल जब मेरे ही गले की फाँ होने लगी, तो मैंने उसे जड़ से काट डाला। उठें, महाराज जय हो, महाराज मुक्त हैं।"

"कैसा भयानक सत्य तुमने सुनाया रानी!"

"अवश्य ही मैं राज्य के एक मनुष्य के वध के लिये महारार के निकट अपराधिनी हूँ। महाराज जैसा चाहें, वैसा मेरा न्या करें।"

"तुमने मुझे मुक्त किया है, तुम्हें प्राण-दंड न दूँगा। राजा को क्षमा करने का भी अधिकार है।"

राजा और रानी ज्यों ही कारागार का द्वार खोलकर बाहर पहुँचे, त्यों ही वहाँ राजकुमार भी आ पहुँचा। रानी उसे देख-कर डरी, महाराज चकित हुए।

राजकुमार ने बकना आरंभ किया—"माताजी! आपने महाराज को मुक्त कर दिया, ठीक किया। मैं भी इसीलिये यहाँ आया था। इन्हें शत्रु ने बंदी बनाया। मैं उसकी सेना में भरती होने जा रहा हूँ।"

रानी ने राजकुमार का हाथ पकड़कर उसे कारागार के भीतर डाल दिया, और महाराज से कहा—"विष के प्रभाव से यह मरा नहीं, पागल हो गया है महाराज! ज्ञान नष्ट हो जाने से यह और भी अधिक भयंकर हो गया है। इसे यहीं बंदी रहने दें।"

"नहीं-नहीं, अब इसके ऊपर अधिक कठोरता न करो। वह शांत प्रतीत होता है। अब इससे किसी डर की आशंका नहीं। चलो, इसे राजमहलों को ही ले चलें। एक कोने में पड़ा रहेगा।"

यह सुनकर राजकुमार भीतर से गाते हुए बोला—"नहीं, मैं राजमहल को नहीं जाऊँगा।"

महाराज ने कारागार के द्वार खोल दिए, पागल उसमें से निकला और "मेरा घर इधर है।" कहता हुआ तीर की भाँति एक ओर को भाग गया।

महाराज ने मुक्त होकर मंत्री के बंधन खोले, और समस्त विद्रोहियों को क्षमा करने की घोषणा प्रचारित की। इसके बाद वह राजमहल में आए। कुछ ही देर में समस्त राजधानी में यह समाचार फैल गया कि महाराज को मुक्त कर राजकुमार पागल हो गया। समस्त विद्रोही सेना-नायकों ने उसी दिन महाराज के चरणों में सिर रखकर क्षमा माँग ली।

उस दिन से कई महीने तक पागल राजकुमार को फिर किसी ने राजधानी में नहीं देखा। महाराज ने उसकी खोज कराई, पर कुछ पता न चला।

गुफा में पिता की प्रसन्नता की चरम सीमा है। कवि के आने के कई महीने बाद आज उन्होंने उसके साथ अंधी के विवाह की तिथि नियत की है।

अंधी ने आज नवीन वस्त्र धारण किए हैं, न-जाने पिता ने उन्हें कब से संग्रह कर रक्खा था। वह गुफा के बाहर

जाने के लिये तैयार होते हुए कहने लगे—"नदी के किनारे एक जगह बहुत-से कमल के फूल खिले हुए हैं। मैं उन्हें लाकर इस अंधी को सजाऊँगा, और मेरे पास उसे देने को कुछ भी नहीं है।"

पिता ने प्रस्थान किया, अंधी कहने लगी—"कवि, आज हमारा विवाह होगा। यह कैसे सुख का दिन है, अब तुम मुझे छोड़कर कहीं भी न जा सकोगे। तुम चुप हो गए, बोलते नहीं, क्या करने लगे?"

कवि उस समय एक पत्थर पर उस साधक की दी हुई बूटी को घिस रहा था, कहने लगा—"तुम्हारी अंधी आँखों में लगाने के लिये अंजन बना रहा हूँ। आ, मातृहीने! तेरी चोटी गूँथ दूँ।"

"मैंने उसे स्वयं ही गूँथ लिया है।"

"आओ, यह तैयार हो गया है।"

कवि ने अंधी की आँखों में उस जड़ी का लेप किया। अंधी कहने लगी—"तुमने मेरी आँखों में यह क्या लगा दिया?"

"क्या इससे पीड़ा पहुँचती है?"

"नहीं, यह परम शीतल प्रतीत होता है।"

इसके पश्चात् कवि ने उसके माथे में सिंदूर की रेखा अंकित की।

अंधी—"क्या इसके लगाने से मेरी आँखें देख सकेंगी?"

कवि—"कदाचित्।"

अंधी—"ओह! यदि आज विवाह के दिन मैं तुम्हें देख सकती। कवि! मेरी आँखों से पानी की तरह कुछ गिरा जा रहा है।"

कवि—"गिरने दो।"

अंधी—"कवि! मेरे मानस-जगत् में कुछ परिवर्तन हो रहा है।"

कवि—"होने दो।"

अंधी—"यह क्या, कुछ भेद-सा प्रकट हो रहा है। जहाँ एक-सा था, वहाँ कुछ और भी बढ़ा चला आ रहा है।"

कवि—"आने दो, कदाचित् यही प्रकाश है।"

"यही प्रकाश है!" कहकर अंधी नाच उठी। कवि पास ही छिप गया।

अंधी हर्षातिरेक से कहने लगी—"प्रकाश! प्रकाश! यही प्रकाश है! मेरी आँखों का आवरण हट गया। मुझे कुछ और अनुभव होने लगा है, इसी को प्रकाश कहते हैं। यह गुफा के भीतरी भाग में जाने का द्वार है। इसमें यह एक वृक्ष की जड़ है। इसकी ठेस कभी-कभी मेरे पैरों में लगती थी। आज यह बिना टटोले ही मुझे ज्ञात हो रही है। क्या इसी को देखना कहते हैं? पर तुम नहीं दिखाई देते कवि!" अंधों की भाँति टटोलकर कवि को खोजती है। न पाकर फिर कहती है—"तुम कहाँ हो कवि! क्या इसी को छिपाना कहते हैं? प्रकाश! प्रकाश!

क्या मैं तुम्हें अब भी न खोज सकूँगी! गुफा के द्वार पर यह प्रकाश और भी अधिक है। कवि, वहाँ तो नहीं छिप गए?"

अंधी गुफा के द्वार की ओर जाती है। वहाँ उसे लौटते हुए पिता दिखाई देते हैं। वह उन्हें न पहचानकर उनका भय करती हुई भीतर को लौटती है। कवि उसे रोकने के लिये उधर बढ़ा आ रहा था। अंधी उसे देखकर भी घबराई। कवि ने उसे धीरज देने को कहा—"देवि! डरो नहीं।"

अंधी ने आवाज़ पहचानकर कहा—"अहो! क्या तुम्हीं कवि हो? इतने सुंदर और इतने उदार!"

पिता ने प्रवेश कर यह अद्भुत लीला देखी, और कहा—"हे भगवान्! यह क्या देख रहा हूँ?"

अंधी ने पिता के चरणों में सिर रखकर कहा—"पिता! कवि ने मुझे दृष्टि दी है। आज मुझे अंधकार और प्रकाश का भेद मालूम हो गया।"

पिता ने कृतार्थ होकर कवि की ओर देखा। कवि ने सब कुछ वर्णन किया।

अंधी कहने लगी—"मुझे गुफा के बाहर पूर्ण प्रकाश में जाने दो। मैं देखूँगी, वहाँ क्या है?"

पिता ने कहा—"वहाँ सूर्य, चंद्र और नक्षत्र हैं। उनका उज्ज्वल प्रकाश तुम्हारी इन नवोन्मीलित आँखों को दुर्बल कर देगा।"

अंधी—"क्षण-भर में ही वापस आ जाऊँगी।"

पिता—"नहीं। देखता हूँ, अंधेपन के नष्ट होने के साथ ही तूने अपना समस्त धीरज खो दिया! लो कवि, इस चपल लड़की को अपने बंधन में लो।"

यह कहकर पिता ने उस कन्या का हाथ कवि के हाथ में दे दिया। फिर उन दोनो के गलों में कमल-मृणाल की एक माला पहनाई। आँखों में आँसू भरे, और दीपक प्रज्वलित कर उनकी आरती उतारी।

प्रकाश-प्राप्ति के बाद अंधी राजमहल को देखने के लिये विकल हो उठी। वह नित्य अपने पिता और पति से इसका अनुरोध करने लगी।

वह गुफा के बाहर नदी और वन के सौंदर्य से तृप्त न हुई। कुछ दिनों बाद उसने नील आकाश और उसके सूर्य, चंद्र, तारिकाओं के दर्शन किए सही, पर राजधानी और राज-भवन का अदर्शन उसके मन में काँटे की तरह खटकने लगा।

अंत में एक दिन पिता ने कवि से कहा—"राजभवन में तो नहीं राजधानी में तुम इसे लेकर जा सकते हो। राजधानी यहाँ से पंद्रह मील होगी। यह एक दिन में इतनी यात्रा कर थक जायगी। परसों पूर्णिमा है। राजधानी में गंगा-स्नान का मेला भी होगा। मेरी समझ में तुम इसे लेकर कल सुबह यहाँ से विदा हो जाओ। तुम्हारे केशों के बढ़ जाने और वेशी के बदल जाने से तुम्हें कोई पहचान भी न सकेगा। किसी के साथ संभाषण करने की कोई आवश्यकता नहीं।"

अंधी मग्न हो गई। कवि उसे आवश्यक वस्तुओं-सहित साथ लेकर राजधानी को बिदा हुआ। पूर्णिमा के प्रभात-समय वे राजधानी में पहुँचे।

उन्होंने मेले से दूर नदी में स्नान किया, और समीपस्थित एक देव-मंदिर में अंजलि चढ़ाने को गए। इसके पश्चात् उन्होंने नदी-किनारे बैठकर जल-पान किया।

पगला राजकुमार साल-भर बाद न-जाने कहाँ से फिर राजधानी में आ गया था। वह कवि और उसकी स्त्री के निकट ही नदी-तट पर खड़ा हुआ था। उसका रूप और वेश बड़ा भयानक हो गया था। इसके ऊपर उसने अपनी पीठ में एक बहुत बड़ा पत्थर बाँध रक्खा था।

कवि ने राजकुमार को पहचाना ही था कि वह उस नदी में कूद गया। कवि उसे बचाने को दौड़ा, पर वह गहरे जल में डूब चुका था।

कवि ने घबराकर अपनी स्त्री से कहा—"यह राजकुमार था। कदाचित् इसने किसी कारण आत्महत्या की है। पीठ मे पत्थर बँधा होने के कारण शायद वह दूर न बह गया होगा। महाराज को अभी इसकी सूचना दी जानी चाहिए, कदाचित् अब भी इसकी रक्षा हो सके। तुम्हारी राजमहल देखने की इच्छा, जान पड़ती है, पूरी हो जायगी। चलो, मैं तुम्हें, उसका पथ दिखाऊँगा। शीघ्रता करो। तुम्हीं राजमहल के अंदर जा कर महाराज को राजकुमार के डूबने का समाचार सुनाओगी।"

दोनो राजमहल की ओर दौड़े । कवि ने राजमहल के प्रधान द्वार की ओर संकेत किया । उसकी स्त्री बिजली की भाँति उसमें से होकर अंदर चली गई। प्रहरी देखता ही रह गया। भीतर जाकर उसे मालूम हुआ, महाराज रनिवास में हैं। उसने एक दासी के द्वारा उनके पास संदेश भेजा कि एक स्त्री जरूरी समाचार लेकर उनसे मिलना चाहती है। महाराज ने उसे वहीं बुला लिया।

वह सकरुण कंठ से महाराज से बोली—"बड़ा भयानक समाचार लाई हूँ महाराज! राजकुमार ने नदी में डूबकर आत्महत्या की है। उनकी खोज का प्रबंध कीजिए महाराज!"

उसकी बातें सुनकर रानी ने वहाँ प्रवेश कर कहा—"कौन है तू बेटी! यह हमारे लिये सबसे सुखद समाचार है। मैं तुझे इसके लिये उपहार दूँगी।"

राजा और रानी को ऐसा ममत्व-हीन पाकर कवि की स्त्री काँप उठी। रानी ने अपना रत्न-हार निकालकर उसके गले में पहना दिया। अंधी का रूप खिल उठा। उसने सिर नीचा कर कृतज्ञता प्रकट की। रानी ने कहा—"कौन है तू बेटी! तेरा रूप चिर-परिचित-सा प्रतीत होता है। तू हमारे राजभवन में कभी पहले भी आई है?"

"नहीं, आज ही आने का सौभाग्य हुआ है।"

रानी—"तेरे कान नंगे हैं, अच्छे नहीं लगते। मैं इनमें भी कुछ पहनाऊँगी। ये छिदे हैं बेटी?"

"नहीं महारानी ! मैं वनवासिनी हूँ, इस पर मातृ-हीन हूँ। मैंने कभी आभूषण नहीं पहने। पर पिता कहते हैं, मेरा बायाँ कान स्वभावतः छिदा हुआ है।"

रानी ने चकित होकर महाराज से कहा—"एक साम्य अद्भुत पाती हूँ महाराज ! उस संतान-परिवर्तन की रात्रि को मैंने, भविष्य की पहचान के लिये, अपनी लड़की का बायाँ कान छेद दिया था। इधर तो आ बेटी !"

रानी ने उसके दोनो कानों का निरीक्षण कर बात यथार्थ पाई। कवि की स्त्री कुछ भी न समझी। महाराज नीरव थे। रानी ने कहा—"आप किस चिंता में पड़ गए महाराज ! पागल राजकुमार नदी में डूबकर मुक्त हो गया, और कदाचित् यह पुत्रहीनता का समाचार सुनानेवाली आपको संतान-हीन होने से बचा ले।"

महाराज ने कहा—"सब अच्छा है रानी ! परंतु इस अमृत-वचन के कहनेवाले को मैंने तेल में भुनवा दिया, यही अच्छा नहीं हुआ।"

कवि की स्त्री को यह सारी कथा ज्ञात थी। उसने प्रसन्न होकर महाराज से कहा—"महाराज ! यदि मैं उन्हें फिर आपके सामने ले आऊँ, तो क्या आप उन्हें क्षमा कर देंगे ?"

महाराज आसन से उठे, और चकित होकर कहने लगे—"तू मायामयी कौन है ? तूने कैसा अचरज-भरा समाचार सुनाया ! उसे क्षमा दूँगा नहीं, स्वयं माँगूँगा।"

"मैं उन्हें अभी महाराज के सामने ले आती हूँ"—कहकर अंधी कवि के पास चली गई।

रानी कहने लगी—"परंतु संशय की एक ही बात है, वह लड़की अंधी थी। मेरा मन इसकी ओर खिंच गया है महाराज! यही आपकी कन्या है, अंधापन दूर हो गया होगा।"

महाराज ने कहा—"अभी यह बात प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। हम आज ही इस लड़की के घर जाकर इसका अनुसंधान करेंगे।"

महाराज को इस बात का विश्वास न था कि कवि इस जन्म में फिर मिलेगा। उन्होंने कवि की स्त्री की बात को उसका भ्रम समझा, तो भी वह बेचैन होकर उसकी राह देखने लगे।

उसने सचमुच कवि को लाकर महाराज के सामने खड़ा कर दिया। कवि अपराधी की भाँति विनत-वदन और नीरव रहा।

महाराज ने तत्क्षण कवि को पहचानकर गले लगाया, और कहा—"तुम्हें सिर नीचा नहीं करना है कवि! अपराधी मैं हूँ। तू वरदान से भरी कौन है बेटी! मेरे सिर से कवि-वध के भारी पातक को दूर करने के लिये इन्हें कहाँ से ले आई?"

"मैं नहीं लाई। इन्होंने ही लाकर मुझे राजभवन का मार्ग दिखाया है। यह मेरे पति हैं।"

कवि ने महाराज को सारी कथा सुनाकर कहा—"यह भी अच्छा ही हुआ है महाराज!"

महाराज ने दुहराया—"अच्छा ही नहीं, बहुत अच्छा है, इससे अच्छा और कुछ हो नहीं सकता !"

महाराज ने वधिक को पुरस्कृत करने का निश्चय किया, और वह उसी क्षण महारानी, कवि और उसकी पत्नी को लेकर उनके आश्रयदाता के दर्शन के लिये गुफा की ओर रथ में रवाना हुए।

वहाँ तक रथ नहीं जा सकता था। सबने उतरकर एक घने गिरि-कानन के मार्ग से होकर गुफा में प्रवेश किया।

महाराजा और महारानी ने पिता के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने कवि की रक्षा का आभार मानकर कहा—"महाराज, एक संदेह दूर कीजिए, इस लड़की के माता-पिता कौन हैं ?"

पिता ने कहा—"मैं नहीं जानता। तेरह वर्ष पहले एक दिन मैंने इसे राजधानी के निकट, एक मार्ग में पड़ा पाया था। तब से मैंने इसका पालन-पोषण किया, इसी कारण यह मुझे पिता कहती है।"

महारानी ने लड़की का हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींच लिया।

महाराज ने कहा—"क्या यह लड़की अंधी थी ?"

पिता—"हाँ।"

महारानी ने, आँखों में आँसू भरकर, राजकुमारी को गले से लगाया।

महाराज—"यह कब से देखने लगी ?"

पिता—"विवाह के दिन से। कवि ने इसके नेत्रों को प्रकाशित किया।"

महाराज ने कवि की ओर देखा। महारानी ने पिता से कहा—"यह लड़की हमारी है।"

पिता ने प्रसन्न होकर कहा—"यह एक अंतिम भार मेरे सिर पर था। अब मैं और भी निश्चिन्त होकर मर सकूँगा।"

उसी दिन पिता ने आँसू भरकर बेटी को विदा किया। वह दृश्य बड़ा करुणा-जनक था।

इसके बाद ही शुभ लग्न में महाराज ने राजकुमारी औ कवि का खूब धूम-धाम से विवाह किया।

राजकुमारी ने कवि से कहा—"कवि! एक ही जीवन में यह हमारा दूसरा विवाह है।"

कवि ने कहा—"तुमने भूल की, चौथा विवाह है।"

राजकुमारी—"किस तरह?"

कवि—"मैंने पहली बार तुम्हारा पाणिग्रहण गुफा के प्रथम प्रवेश में किया था, जब तुमने आवेश में आकर अपना हाथ आग में डालने को बढ़ाया था। उस दिन तुम अंधी थीं।"

राजकुमारी—"सचमुच, इस पाणिग्रहण का मुझे पता ही नहीं। अच्छा, यह भी सही, फिर?"

कवि—"दूसरा विवाह भी गुफा में ही हुआ, उसी दिन तुम्हें प्रकाश प्राप्त हुआ था।"

राजकुमारी—"अच्छा, तीसरा विवाह?"

कवि ने धीरे से राजकुमारी के सिर में एक चपत लगाकर कहा—"चुप रहो, तीसरे विवाह का नाम नहीं लिया जाता, इसे अशकुन समझते हैं। इसी का नाम चौथा विवाह है। आज तुम राजकुमारी हो।"

संध्या-प्रदीप

देखा, एक सतत रूप-सी खड़ी थी। मेरी एक आँख दूसरी आँख से पूछने लगी—"यह कौन है ?" किसी ने किसी को कुछ उत्तर नहीं दिया। सुंदरी खिल-खिलाकर हँस पड़ी। कहने लगी—"नौकरी करोगे ?"

"यदि मन के लिये रुचिकर काम मिल गया, और वेतन इच्छाओं के लिये पर्याप्त हुआ, तो कोई हानि नहीं समझता, ऐसा तो खोज ही रहा हूँ।"

"किसी और जगह भी नौकरी कर चुके हो ?"

"कर चुका हूँ, बहुत स्थानों में; वे इतनी अधिक संख्या में हैं कि किसी एक की भी ठीक याद नहीं।"

"इसकी कुछ भी चिंता नहीं, किंतु तुम्हारे मन के मुताबिक़ नौकरी और तुम्हारी ही इच्छा के अनुसार उसका वेतन ! यह तुम्हें कौन इस विश्व में दे देगा ?"

"किसी ने नहीं दिया, सुंदरी ! तुम दे सकती हो ?"

"हाँ, पर तुम्हारी रुचि के अनुकूल दोनो में से केवल एक ही वस्तु—या नौकरी, या वेतन। कोई भी एक वस्तु पसंद कर लो।"

"इस बार कुछ भी पसंद नहीं करूँगा। मैं तुम्हारी ही रुचि के अनुसार काम और तुम्हारा ही मनोनीत वेतन लूँगा।"

"क्या तुम इस पर अच्छी तरह विचार न करोगे ?"

"विचार कर लिया, काम बताओ।"

"ठीक सूर्यास्त के समय, मेरे शयन-कक्ष में, नित्य प्रदीप जलाना होगा।"

"इसके सिवा ?"

"और कुछ भी नहीं।"

"और कुछ भी नहीं ? तो यह भी कोई काम हुआ, इसमें कठिनता क्या है ?"

"सरलता भी अधिक नहीं। फिर सुनो, ठीक सूर्यास्त के समय, मेरे शयन-कक्ष में, देश और काल दोनों का ध्यान रहे। मैं तुम्हारे सिर के ऊपर तीक्ष्ण खड्ग लिए खड़ी रहूँगी। जो क्षण नष्ट होगा, उसी में तुम्हारे प्राण हर लिए जायँगे।"

"मैं संध्या के समय कहीं जाऊँगा ही नहीं। मुझे नौकरी स्वीकार है।"

"तुम्हारे प्रतिदिन का वेतन एक अंजलि भर दीनारें। तुम इसी क्षण से मेरे नौकर हुए। यह देखो, यह स्नेह का भांडार है। ये मिट्टी के दीपक हैं, जब एक टूट जाय, तो दूसरे को बदल सकते हो। यह कपास है। यह भांडार तुम्हें सदैव परिपूर्ण ही मिलेगा। इसकी चिंता मेरे दूसरे कर्मचारियों पर

है। यह अरणी है, तुम्हारे सुकर्म से इसमें अग्नि उत्पन्न होगी। सावधान !"

"सावधान हूँ, काल के विधाता सूर्य को देख लिया। इस समय ठीक ख-स्वस्तिक पर है, और तुम्हारा यह स्वप्न-मंदिर मेरे स्पर्श के भीतर ही है।"

"दिन के चौबीस घंटों में से तुम्हारा केवल एक ही क्षण मेरा बंदी है, शेष समय में तुम मेरे दिए हुए वेतन के भोग के लिये स्वतंत्र हो !"

"मैं कैसे समझ लूँ, सुंदरी ! तुम्हारी तीक्ष्ण तलवार मेरे प्राणों के ऊपर इस प्रकार नृत्य करने लग गई है कि मेरे समस्त जन्म उस केवल एक क्षण की रक्षा में बंदी हो गए हैं।"

सुंदरी चली गई। मैं एकटक सूर्य को ही देख रहा था। क्रमशः वह पश्चिम के आकाश में ढल गया। अंत में उसकी परिधि का अंतिम बिंदु क्षितिज-रेखा की ओट में हुआ, ठीक उसी समय, मेरी नौकरी की पहली संध्या का प्रदीप, दिशा-विदिशाओं में मधुर ज्योति विकीर्ण करता हुआ जल उठा।

सुंदरी प्रकट हुई। उसने खड्ग दूर फेंककर, एक अंजलि-भर दीनारें देते हुए कहा—"ले काल के साथ कठोर युद्ध करनेवाले सैनिक ! तेरा आज का वेतन।"

मिलनमई संध्या की कोमलता खिल उठी थी। मैं उसी क्षस धन लेकर नगर को चला।

आज उस वेतन का कुछ भी उपयोग न सूझा। वह नित

की सध्या का प्रदीप मेरे मन मे था, मेरे मन की लौ उस साँझ के दिए में थी। हाथ का धन उस एक इच्छा को टुकड़े-टुकड़े कर अनंत देशों में बो देने के लिये चिंतित था। किसी पथ की भिखारिन ने मानो मेरी विजय की घोषणा करने को कहा—"भाई!"

उसकी करुणा-सिंचित पुकार में ही मेरे लिये बड़ा आकर्षण था, इस पर उसने मेरा उत्तरीय खींच लिया था।

मैंने उसकी तरफ़ दृष्टि कर देखा। उसका अंग कृश था, वस्त्र जीर्ण। मैंने पूछा—"क्या कहती हो?"

"मेरे अनाथ बालक भूखे हैं।"

मैंने बिना कोई दूसरा प्रश्न किए अपने पहले दिन के वेतन की समस्त अशर्फ़ियों का भार उसके हाथ में रख दिया। उसके आशीर्वाद को सुनने के पहले ही द्रुत गति से नगर से लौट आया।

घर आकर देखा, हेमवती संध्या के समस्त रंग निशा की कालिमा में लीन हो गए थे। पूर्व के आकाश में बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा उस कृष्णपक्ष के तारिकालोक को निगलने के लिये क्रमशः घनीभूत हो रहा था। ठीक उसी तरह मेरे चिदाकाश में भी एक चिंता का बादल फैलने लगा। ज्यों-ज्यों गगन को मेघ ढकने लगे, त्यों-त्यों मेरे मन में भी वह कालिमा चढ़ने लगी।

रात-भर नींद नहीं आई। वर्षा, बादल और बिजली का

संग्राम जारी था। उस काल-रात्रि में मृत्यु मानो गीत बंद कर नाचने लगी थी।

भोर हुआ, पर आकाश और पृथ्वी की वही दशा रही। संध्या होने को आई। संशय और भय से मेरा रोम-रोम काँप रहा था। काले बादल ही काल-ज्ञान की बाधा थे। बिना उसके किस समय दीपक जलता, किस तरह प्राण-रक्षा होती? हा! इन बादलों का पहले ध्यान ही किसे था! एक-एक क्षण एक-एक युग था। आँखें फाड़-फाड़कर पश्चिम की ओर देख रहा था। उधर ही घन सघन थे, वहीं तम घोरतम था।

हृदय के प्रत्येक स्पंदन में मैं उस खड्ग-धारिणी के आने की कल्पना करने लगा। वह प्रकट नहीं हुई, पर एक विचार मेरे मन में उदित हुआ। मैंने तुरंत ही संध्या का प्रदीप प्रज्वलित कर दिया!

उसके नूपुरों की झंकार ने उसके आगमन की सूचना दी। वह आई, उसने खड्ग उठाकर कर्कश स्वर में कहा—"क्या दीपक जलाने का यही समय है?

मैंने शांति से उत्तर दिया—"तुम कैसे कहती हो कि यही घड़ी नहीं है? समय है, और यही है।"

"समय यही है? और, यही तुम्हारा अटल विश्वास भी है? तुम इन मेघों की चिंता नहीं करते?"

"तिल-भर भी नहीं। विश्वास से ही चिंता पर विजय मिलती है।"

सुंदरी ने खड्ग नीचा कर लिया और सस्मितानन से कहा—"तुमने सब सच ही कहा है। वह देखो, क्षितिज का एक कोना खुल गया। सूर्य अभी डूबा है, यही जान पड़ता है। लो, तुम्हारा वेतन।"

"आज से मैं वेतन ही न लूँगा, यही मेघ-माला है। मेरा रवि इसे आगे कर न छिपे।"

प्रेस और पुस्तकालय-योजना

प्रिय महोदय,

(१) हिंदी अब हमारी राष्ट्र-भाषा है। इसका प्रसार हमें तन, मन, धन से करना चाहिए।

(२) इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक ऐसे नगर और क़स्बे में, जिसमें २५,००० से ज्यादा स्त्री-पुरुष और वृद्ध-बच्चे रहते हैं, एक पुस्तकालय (बुकडिपो) ज़रूर हो। इस बुकडिपो में भारत-भर की हिंदी-पुस्तकें रहें। साथ ही स्कूली किताबें, अँगरेज़ी की बिकनेवाली किताबें और कागज़ तथा स्टेशनरी रहे।

(३) जहाँ कहीं २५,००० व्यक्ति हों, १०,००० रु० की पूंजी से एक बुकडिपो खोला जाय। जिन नगरों की १,००,००० से ज्यादा की जन-संख्या हो, वहाँ कई पुस्तकालय १०,०००)-१०,०००) की पूँजी से दूर, पर मशहूर बाजारों में खोले जायँ। २-४ हज़ार रुपए हम भी लगा सकते हैं। पर हमारी इच्छा है, वहीं के प्रतिष्ठित साहित्य-सेवी, हिंदी-प्रेमी और रईस, वकील, डाक्टर, अध्यापक वग़ैरा स्त्री-पुरुष आपस में यह रुपया इकट्ठा करें। मान लीजिए, कोई कंपनी १०,०००) की पूँजी से खोली गई है, तो उसमें १००)-१००) के १०० शेयर रहें। ये शेयर वहीं के निवासी आपस में लें। हमसे कहेंगे, तो हम भी कुछ शेयर ले लेंगे। पर काम वहीं के लोग डाइरेक्टर या संचालक रहकर करें। कोई हिंदी-प्रेमी चेयरमैन रहे, और कोई मंत्री या व्यवस्थापक।

(४) यह बुकडिपो लिमिटेड कंपनी या सहकारी संघ के रूप में चलाया जाय या कुछ व्यक्ति ही, जो हिंदी-सेवा करते

हुए १२ प्रतिशत रुपया भी कमाना चाहें, साझेदारी के रूप में चलाएँ। अधिक-से-अधिक १,००,०००) की पूँजी से ही काम किया जाय। वैसे हिंदी-प्रेमी रईस तो अनेक ऐसे हैं, जो लाखों रुपया हिंदी-सेवा में, साहित्य-विकास में, लगाकर रुपया भी कमाना चाहेंगे।

(५) आवश्यकता होने पर वहाँ छोटा-सा या बड़ा प्रेस भी कर लिया जाय, और साप्ताहिक या मासिक पत्रिका भी निकाली जाय। इसके लिये भी शेयर बेच दिए जायँ।

(६) आप कृपया अपने वहाँ ऐसी हिंदी-संस्था खोलना उचित समझें, तो हमें लिखें, हम आपकी पूरी सहायता करेंगे। जब कहेंगे, तो इस कार्य के लिये स्वयं आ जायँगे। १०००)-१०००) लगाकर १० हिंदी-प्रेमी या ५-५ हजार लगाकर २ ही सज्जन यह कार्य कर सकते हैं।

(७) पुस्तकालय के नाम—गंगा-पुस्तकमाला एजेंसी रहे, स्थान का नाम उसके पहले लगा दिया जाय, तो गंगा-पुस्तक-माला के प्रसिद्ध होने के कारण पुस्तकालय फ़ौरन् चलने लगेगा या जो नाम उपयुक्त आप लोग समझें, वह रख लें। यह आपकी मर्ज़ी पर है।

(८) यदि आपका या आपके जिस किसी मित्र का बुक-डिपो आपके क़स्बे या नगर में हो, तो उसे ही, यदि आप ठीक समझें, तो औरों के शेयर लगवाकर बृहत् रूप दे दें।

इस विषय में हमसे जो सहयोग चाहें, लिखें।

भवदीय

अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ